# केवल विस्मृति

**ध्यान रहे**

परतमात्मा पुरुषोत्तम होने से उन्हें 'यह' या 'वह' रूप में कभी पाया नहीं जा सकेगा । परमात्मा की प्राप्ति आजतक जिन्हें भी हुई है उन्हें केवल 'मैं' रूप में ही प्राप्त हुई है अतः जिसकी प्राप्ति 'मैं रूप' में ही होती है, उसकी प्राप्ति हेतु किसी प्रकार के साधन एवं अभ्यास करने की जरूरत नहीं है ।

स्वामी निरंजन

# केवल आत्म विस्मृति

प्रसिद्ध कथा है कि  एक समय दस मुर्ख मिलकर अपने गावँ से दूसरे ग्राम रामलीला देखने चले। रास्ते में मरुस्थल की नदी दिखाई पड़ी । किसी समझदार मूर्ख ने विचार किया कि हम सभी एक दूसरे के हाथ पकड़ कर नदी पार करें तो अच्छा होगा, कोई डूबने लगा तो उसे खींचकर नदी तट पर ले आवेंगे। यह प्रस्ताव सभी को स्वीकार हुआ एवं परस्पर हाथ पकड़कर बिना जलकी नदी पार हो गये । उस समझदार मूर्ख ने सोचा एकबार गिनलें कि कहीं हममें से पीछे वाले का शायद हाथ छूट जाने से वह डूब तो नहीं गया हो । यह विचार से उसने अपने को छोड़कर अपने अन्य साथियों को गिना तो वे नव ही गिनती में आये किन्तु मैं स्वयं दसवा हूँ इस प्रकार अपने को गिनना वह भूलगया ।  सभी अपने को छोड़ शेष नव को गिनकर चुप हो जाते  । फिर तो दसवें की खोज में दसों इधर–उधर लग गये  । दसवें के न मिलने से सभी दुःखी हो रोने, चिल्लाने लगे हाय दसवां ! अरे दसवां  । अरे भैया ! तू हम सबको छोड़ कहाँ चला गयारे ? हम घर कैसे जावेंगे ? तेरे पिता हमारे साथ तेरे घर पर न आने के कारण हमें मार पीट करेंगे । हमें पोलिस थाने में बंद करवा देंगे । वहाँ पुलिस वाले भी हम सभीको जोर–जोर से मारेंगे । अरे भैया ! तू कहाँ छिप गया, कहाँ खो गया है, कहाँ रह गया है आ लोट कर आजा मेरे मीत तुझें हम सभी बुलाते हैं।

इसी रास्ते से एक पथिक निकला और उसने इन सभी व्यक्तियों को रोता देख ठहर कर पूछा अरे भाईयों  ? तुम यहाँ गरम बालू रेत पर बैठे क्यों रो रहे हो ? तुम किसका दुःख मना रहे हो ?  तब उन सभी ने कहा अरे भाई ! हमारा दसवां साथी नदी पार करते समय कहीं डूब गया है । क्या आपने इस नदी को पार करते समय उसको जिन्दा या मरा कहीं देखा है ?

पथिक ने सोचा यहाँ कोई नदी ही नहीं और इनका साथी नदी में डूब मरा यह बात तो समझ नहीं आती । उस पथिक ने पूछा अरे भाइयों ! तुम यह तो बताओ कि सब कितने लोग आये थे ? तब उन में से समझदार मूर्ख ने कहा अरे भाई ! हम दस आये थे । पथिक ने पूछा जो डूबगया है उसका नाम क्या था ? दसों ने कहा हम उसका नाम नहीं जानते हैं पर एक हमारा दसवाँ साथी निश्चित डूब गया है ।

पथिक ने देखा कि यह तो दस ही हैं । अवश्य इन्हें दसवें के खो – जाने की भ्रान्ति हो गई है । उस विवेकी पथिक ने कहा–अरे ! तुम्हारा दसवां साथी मिलगया है वह मरा नहीं है। तुम मत रोओ, यह सुन कर सभी प्रसन्न हुए व कहा अरे भाई ! तो फिर हमें शिघ्रता से हमारे बिछुड़े हुए दसवें साथी के दर्शन कराओ ? आओ मेरे साथ एक समझदार व्यक्ति, मैं तुमको उससे मिलवा देता हूँ । तब उस पथिक ने उन्हें खोये हुए दसवें की भ्रान्ति को दूर करने हेतु एक युक्ति निकाली और सबको एक पंक्ति में खड़ाकर दिया व उनमें से जो समझदार मूर्ख था उस व्यक्ति को अपने साथ रखा व कहा देख मैं क्रम से एक–एक व्यक्तियों पर यह बेंत उनके हाथ में मारूँगा तुम एक से दश तक गिनते रहना, मुझ से गिनती में भूल न हो जावे । उन दसों मूर्खों से पथिक ने कहा तुम सभी अपनी दाँया हाथ लम्बा करलो और अपनी संख्या गिनती प्रारम्भ करें ।

पथिक एक–एक व्यक्ति के हाथ पर बेंत मारता गया । वह समझदार मूर्ख नव तक गिनती बोलते गया व बोला कहाँ है हमारा दसवाँ ? यह तो नव ही है इन्हें तो हम पहले ही गिन चुके थे ! अब पथिक ने नव तक गिनने वाले दसवें के हाथ पर बेंत मारी तो वह अपनी संख्या दस बोल चिल्ला पड़ा । अरे भाइयों ! सच में हमारा खोया हुआ दसवां मिल गया उसके लिये चिन्ता मत करो अब हमें उसे साथ लेकर शिघ्र अपने गाँव लौट चलना चाहिये । पथिक को दसवां खोज बताने के लिये दसों ने धन्यवाद दिया और दसवें के खोजने के कष्ट के लिये क्षमा मांगी ।

पाठक विचारें ! क्या यह दसवां अप्राप्त था ? क्या यह दसवां पुरुष किसी नूतन पुरुष की प्राप्ति थी ? नहीं । प्राप्त का ही अभान था अब

उसका भान हो गया, केवल भूले हुए की स्मृति हो गई । जैसे कस्तूरी की खोज मृग की अज्ञानता ही है । क्योंकि वह प्राप्त कस्तूरी को अप्राप्त जान, भूखा–प्यासा खोजने में लगा व्यर्थ दुःख पाता है । इसी तरह अज्ञानी जीव प्राप्त परमात्मा को खोया जान व्यर्थ नाना कष्टप्रद साधन कर उसे खोजने का दुःख भोग रहा है ।

**कस्तूरी कुण्डल बसे, मृग खोजे वन माहि ।**
**अखण्ड राम घटमें बसे, मूरख खोजन जाहि ।।**

**पाया कहे सो बावरा, खोया कहे सो क्रूर ।**
**पाया खोया कुछ नहीं, ज्यों का त्यों भरपूर ।।**

कभी कार्य की व्यस्तता के कारण अथवा मन के अन्यमनस्कता के कारण कान पर फसाई कलम, मस्तिष्क पर चढ़ाया चश्मा, गले का हार, साड़ी के पल्ले में बांध अंगुठी, पीठ पर बच्चा बांध, वेनेटी पर्स में घड़ी, चैन, मोबाईल फोन रख भूल जाते हैं व खो जाने का भ्रम हो जाता है बाद में स्मृति हो जाने पर मिल जाने का बोध होता है । पर वह सब पहले से वहीं था जहाँ रखा गया था, कुछ नूतन प्राप्त नहीं हुआ । इसी प्रकार तुम आत्मा सदा से ही हो मुक्त किन्तु देह संघात् के व्यवहार में एकत्व बुद्धि, अहं बुद्धि, तादात्म्य कर भूल जाते हो । जब सद्गुरु की कृपा से उस प्राप्त परमात्मा की प्राप्ति का अनुभव करलेते हो तब आप उस सद्गुरु को धन्यवाद देकर जीवन पर्यन्त अपने को उनके किये उपकार के लिये आभारी, ऋणी मानते हो ।

हम सोचते हैं कि कभी न कभी साधन द्वारा हम आत्मा को प्राप्त करलेंगे । जब कि हम आत्मा सदा से हैं । परमात्मा के प्राप्ति के लिये तुम जितना भी साधन कर रहे हो वह प्राप्त परमात्मा व तुम्हारे बीच दूरी का भ्रम पैदा कर रहा है । हम आत्मा के अलावा किञ्चित् भी अन्य नहीं है ।

जब तक हमारा देह, प्राण, इन्द्रिय तथा मन, बुद्धि के साथ अहं भाव, एकत्व भाव बना रहेगा, तब तक शोक–मोह, जन्म–मृत्यु, सुख–दुःख बना रहेगा । जब देह संघात् से एकत्व बुद्धि हट जावेगी, तब हमारे

सब शोक–मोह, सुख–दुःख स्वतः समाप्त हुए से मालूम पड़ जायेंगे । जबकि यह समस्त द्वन्द्व प्रथम से ही आपके साथ जुड़े हुए नहीं थे । आपने केवल अपने आत्म स्वरूप के अज्ञान से अनात्मा में तादात्म्य बुद्धि कर उनके धर्मों को अपना धर्म मान लिया था । '**परधर्मों भयावह**' ।

जिसे प्राप्त करने के लिये आप नाना प्रकार के अनात्म कठिन साधन कर थक रहे हैं, किन्तु आप समस्त साधन करने के पूर्व से ही ज्यों के त्यों स्फटिक मणिवत् शुद्ध स्वरूप में ही स्थित हैं । आपके स्वरूप में किसी प्रकार की कोई कलुषितता नहीं आई । आपका चैतन्य आत्म स्वरूप कुंवारा का कुंवारा ही है ।

अपना आत्म–स्वरूप, बिना इन्द्रियों के साक्षात् अपरोक्ष ही है । इन्द्रियों द्वारा जो जाना जाता है वह सब प्रकट, प्रत्यक्ष, दृश्य, अनित्य, विकारी जड़ एवं भिन्न होता है । **'यत् दृश्यं तद् नष्टम्'** अथवा **'यद साध्यं तत् अनित्यम्'** जो कुछ भी साधन द्वारा प्राप्त किया जाता है वह सब अनित्य ही होता है ।

भूल इस प्रकार हो रही है जैसे कोई नशे में घर में बैठा व्यक्ति घर पहुँचने का मार्ग पूछे कि भाई ! मुझे अपने घर शिघ्र पहुँचना है आप कोई मेरे घर का रास्ता जानते हो तो कृपया दया कर बतलावें वहाँ मेरे पत्नी, बच्चे मेरे लिये इन्तजार कर रहे होंगे । उसी प्रकार स्वयं आत्मा होते हुए भी आत्म प्राप्ति का मार्ग पूछना एक मात्र अज्ञान ही है । जैसे बिना खोये हुए दसम् पुरुष की खोज उन अज्ञानियों द्वारा हो रही थी । इसी तरह तुम परमात्मा में होते हुए भी परमात्मा की खोज में भटक रहे हो ।

आश्चर्य है कि सबको जानने वाला, देखने वाला, अनुभव करने वाला स्वयं को अप्राप्त रूप मानकर नाना कठिन साधन कर खोजने में लगा व्यर्थ कष्ट उठा रहा है । देख, देख, देखने वाले को तो देख, कि वह देह के भीतर देखने वाला कौन है ?' 'जान, जान, जानने वाले को तो जान कि वह देह मन्दिर में कौन देवता बैठा है जो सबको देखता व जानता है ?

**मछली खोजे नीर को, कपड़ा खोजे सूत ।**
**जीव खोजे ब्रह्म को, तीनो ऊतके ऊत ।।**

देह, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि के जन्म–मृत्यु, कर्ता–भोक्ता, सुखी–दुःखी, पापी–धर्मी, बद्धादि धर्मों को जीव अपने आत्म स्वरूप में मान रहा है, जबकि आप नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त एकमात्र आत्मा ही है ।

जिस आत्मा को आप ढूंढ रहे हैं तथा अनेक संत महात्माओं के पास जाकर उसे पाने हेतु साधन, मार्ग पूछ रहे हैं, वह आत्मा तो आप स्वयं ही है । सच्चे सद्गुरु द्वारा आपको परमात्म प्राप्ति का मार्ग नहीं बताया जाता है, आत्मा से मिलाया नहीं जाता है, बल्कि तू स्वयं ही परमात्मा है ऐसा अनुभव कराया जाता है। क्या आत्मा दो हैं जो एक खोजेगा व दूसरा खोजने से मिल जावेगा ? सद्गुरु केवल आपके मन से स्वयं प्राप्त स्वरूप आत्मा के प्रति अप्राप्ति का भ्रम दूर करता है । जो गुरु, परमात्मा की प्राप्ति का मार्ग व साधन बतलाता है वह सचमुच में स्वयं भटका हुआ है एवं भोले शिष्यों को भी भटका रहा है, वह गुरु कहलाने का अधिकारी नहीं है । सच्चा सद्गुरु वही है जो भूले भटकों को घर में लाकर परमशान्ति का अनुभव कराता है ।

आप जो सर्वदा मैं, मैं रूप में अनुभव कर रहे हैं, यही तो आत्मा का होना है । मैं हूँ यह सभी कहते हैं, मैं नहीं हूँ ऐसा तो कभी कोई नहीं कहता है । तो यह सदा सब में समान रूप से रहने वाला मैं तत्त्व ही ब्रह्म तत्त्व है । इसमें किसी जाति, धर्म का भेद नहीं है । आत्मा ऐसी कोई आपसे भिन्न इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य शब्द, स्पर्श, रूप, रसादि की तरह विषय वस्तु नहीं जिसे आप साधन द्वारा, कीमत चुका प्राप्त कर प्रसन्न हो जावें। जीव को केवल आत्मा के अप्राप्ति के भ्रम को त्याग करने की ही आवश्यकता है । मुक्ति आत्मा का नित्य सिद्ध स्वभाव है । देह भाव से छूटना ही मुक्ति नाम से कहा गया है । बन्धन नहीं है इसलिये मुक्ति भी नहीं है।

**सदा में समत्वं न मुक्ति न बद्धः, चिदानन्द रूप : शिवोऽहं शिवोऽहम् ।**

देहाध्यास को ही केवल हटाना है, हटने पर आत्मा ही स्वतः प्रकाशित हो जाता है ।

आप चित्त का निरोध किये बिना अभी भी आत्मा ही है । यदि ऐसा मानते हैं कि अभी हमारे पास आत्मा नहीं है, आत्मा कहीं दूर है, वहाँ पहुँच कर, परम धाम जाकर उसे प्राप्त करेंगे तो फिर वहाँ चलकर, प्रतिक्षा करके, साधन करके मिलने वाला पदार्थ आत्मा नहीं होगा । प्राप्त होने वाला प्रत्येक पदार्थ अनात्मा, जड़, एक देशीय, परिच्छिन्न तथा नाशवान् ही होगा । फिर ऐसे नाशवान् को पाकर आप करेंगे भी क्या ?

जब हम 'मैं' शब्द का प्रयोग करते हैं, तब शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि के साथ तादात्म्य कर कहते हैं किन्तु यह सब देह संघात् हमारे द्वारा मेरे की श्रेणी में आ जाते हैं । जैसे मेरा हाथ, मेरी आँख, मेरा मन, मेरी बुद्धि । इसलिये यह सब मेरा, मेरी, मेरे अथवा का, की के द्वारा कहलाने वाले अंगों, वस्तु, पदों व सम्बन्धों में से मैं कोई भी नहीं हूँ ।

तीन शरीर, तीन अवस्था, पंच कोशों से अपने को पृथक् द्रष्टा, साक्षी रूप जान लेने पर जो बचता है जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता है जो सब कुछ जानता रहता है वही मैं आत्मा वास्तविक हूँ, जो सबके गमनागमन का, सबके परिवर्तनों का एकमात्र द्रष्टा ही है।

आत्म अनुभूति करना ऐसा काम नहीं है जैसे इच्छित पदार्थों को प्राप्त कर उन्हें भोग लिया जावे । परप्रकाश अनात्म देहादि पर से अहंकार को हटा देने से आत्मा स्वयं प्रकाशित रह जाती है, क्योंकि यहाँ इन दो के अलावा कोई अन्य तृतीय वस्तु नहीं है । यदि मनुष्य अनात्म वस्तुओं में से अहं भाव का त्याग करदे तो शुद्ध चेतना शेष रह जाती है और वही नित्य चैतन्य आत्मा तुम हो । जड़–चेतन, दृश्य–द्रष्टा, शव–शिव, अनात्मा–आत्मा, परप्रकाश–स्वयंप्रकाश, क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ आदि द्वन्द्व में से एक को भली प्रकार जान लेने से दूसरा स्वतः सिद्ध हो जायगा कि वह क्या है । यदि यह जानलिया कि मैं केवल देखने वाला, जानने वाला चेतन आत्मा हूँ तो दूसरा स्वतः सिद्ध हो जावेगा कि वह दृश्य, जड़ एवं अनात्मा ही है ।

**क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।**
**क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ।।**१३/२

हे अर्जुन ! तू सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा मुझको ही जान । क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ को अर्थात् विकार सहित प्रकृति को और विकार रहित पुरुष को जानना ही **ज्ञान** है । ऐसा जहाँ विचार किया जाता है, वही **सच्चा सत्संग** है । जड़–चेतन, क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ, द्रष्टा–दृश्य, आत्मा–अनात्मा, शव–शिव का ज्ञान जिस ग्रन्थ में पाया जाता है, वही **सद्ग्रन्थ** है एवं ऐसा विवेक जाग्रत कराने वाला उपदेश कर्ता संत ही **सच्चा सद्गुरु** है, ऐसा मेरा मत है । शेष उस के विपरीत सभी उपदेश कर्ता, ग्रन्थ, पंथ सम्प्रदाय अज्ञान रूप ही जानना चाहिये ।

**अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।**
**एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ।।**

– गीता: १३/११

प्रायः साधक आत्मा को नवीन भव्य वस्तु की तरह देखना चाहते हैं। उसे महान् प्रकाश रूप में देखना चाहते हैं । पर वे नहीं जानते हैं कि यह सर्व द्रष्टा, सर्व प्रकाशक ज्योतियों का भी ज्योति अपना स्वतःसिद्ध स्वरूप है । आत्मा को दृश्य चांद–सूरज की तरह नहीं देखा जा सकता । उसकी सर्वश्रेष्ठ अनुभूति यही हो सकती है कि वह मैं हूँ ।

**नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः ।**
**मूढ़ोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ।।** गीता : ७/२५

यह शरीर एवं सृष्टि स्थूल है जो दिखाई देती है । इसमें यह नाम, रूप सब माया का विकार है किन्तु इसके भीतर जो सूक्ष्म अस्ति, भाति, प्रिय रूप आत्म तत्त्व है वह किसी को दिखाई नहीं देता । आत्मा सूक्ष्म तत्त्व है, इसलिए वह इन्द्रियों द्वारा दिखाई नहीं पड़ता है बल्कि आत्म शक्ति का अंश मात्र प्राप्तकर यह सब इन्द्रियाँ अपना कार्य करती है । किन्तु साधक अज्ञानता वश उसे अपने नेत्र, श्रोत्रादि इन्द्रियों से देखने की इच्छा कर नित्य प्राप्त आत्म स्वरूप को जानने से वंचित् रह जाता है ।

जहाँ द्वैत नहीं वहाँ कौन किसका ध्यान करे ? कौन किसका श्रवण, मनन, चिन्तन, दर्शन करे ? जहाँ द्वैत है वहीं सब प्रकार की प्रवृत्ति

होती है । वह सत–असत्, ज्ञान–अज्ञान से पृथक् केवल शुद्ध सत्ता मात्र है ।

**ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।**
**ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ।।**१३/१७

यह परब्रह्म ज्योतियों का भी ज्योति एवं माया से अति परे निरंजन कहा जाता है। वह परमात्मा ज्ञान स्वरूप, जानने के योग्य एवं तत्त्वज्ञान द्वारा मैं रूप से प्राप्त करने योग्य है और सबके हृदय में बुद्धि के साक्षी रूप में विद्यमान है **'सर्वधी साक्षी भूतम्'** ।

बाहरी खोज, व्यर्थ तर्क, सिद्धान्त बहस बाजी को छोड़ अपने ही अन्दर आत्म निरिक्षण द्वारा स्वयं को पहचानने का प्रयास करें।

मुक्ति हमारा स्वभाव है उसके लिये कुछ करना नहीं है । करना है तो बस यही कि अपने सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा के प्रति जो गलत धारणा हो गई है केवल उसका ही त्याग करना है । जैसे मैं बद्ध नहीं, मुक्त हूँ । मैं जड़ नहीं, चेतन हूँ, मैं दुःखी नहीं, प्रत्युत् मैं, सत, चित, आनन्द स्वरूप हूँ, मैं जन्म–मृत्युवान् नहीं बल्कि अजन्मा अविनाशी हूँ । अरे भैया ! तुम साक्षात्कार किसका करोगे ? तुम स्वयं साक्षात् हो । जो सत्य है, वह हमेशा से है एवं हमेशा रहेगा । जिसका भी इन्द्रिय द्वारा साक्षात्कार करोगे वह सब तुमसे भिन्न अनात्म, जड़ एवं नाशवान् ही होगा ।

आत्मा को जानने की या साक्षात्कार करने की बात कहने का मतलब दो आत्माएँ होना चाहिये । जिसमें एक देखेगा व दूसरा दिखाई देगा किन्तु ऐसा नहीं है । दो आत्मा मानना पाप है । **द्वितीया द्वयं भयं भवति ।** परमात्मा को जानने की इच्छा करनेवाले आप स्वयं नित्य प्रकट आत्मा ही हैं । फिर भी उसे ही पाने के लिये कस्तूरी वाले मृग की तरह इधर–उधर खोजने में भटक रहे हो । कोई भी आत्मा के बिना एक क्षण भी नहीं रहता । आत्मा ही तो सबका जीवन आधार है । वही तो एकमात्र जानने वाला देखने वाला है । '**सर्वधी साक्षी भूतम्**'– स्वयं दृष्टि के द्रष्टा को तुम कभी भी दृश्य की तरह नहीं देख सकोगे । तब कैसे चेतन परमात्मा को जड़ मन, बुद्धि जान सकेगा या देख सकेगा ?

जिसे हम आत्म साक्षात्कार कहते हैं वह किसी दूसरी वस्तु की तरह प्राप्त करना, देखना या जानना नहीं है । अनात्मा भाव से मुक्त होना ही आत्मा होना है । जो हम सदा से हैं, सदा रहेंगे । करना केवल इतना ही है कि अनात्म देह संघात् से मैं भाव को हटालेना है, फिर जो सबके हटाने के बाद शेष रह जाता है, उसी शुद्ध निरुपाधिक चैतन्यात्मा में अपने मैं भाव को बनाये रखना है।

'मैंने साक्षात्कार नहीं किया है','क्या मैं साक्षात्कार कर सकता हूँ ?' यह विचार ही, यह भ्रान्त धारणा ही तुम्हारे नित्य मुक्त आत्म स्वरूप में अवरोधक है । अतः इन दो अवरोधक से बचना जरूरी है । जीव द्वारा पकड़े समस्त साधन एकमात्र मिथ्या देह अध्यास को दूर करने के लिये हैं । आत्मा को, अपने को इन दृश्य देह, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि के साथ मत जोड़ो । देह संघात् से तादात्म्यता तोड़ते ही आत्मा शुद्ध शेष रह जाता है ।

हम मुक्ति की अवस्था में कोई नूतन वस्तु की प्राप्ति नहीं करते हैं, जो हमारे पास नहीं थी और जिसे हम साधन कर प्राप्त करलेते हैं । प्रत्युत् आत्मा, मुक्ति, परमात्मा, आनन्द हमारा जन्मसिद्ध स्वभाव है । हम अपने स्वभाव में ही सदा हैं एवं रहते हैं । जैसे कुआँ खोदते समय हम मिट्टी हटाते हैं, जल पैदा नहीं करते हैं, जल तो वहाँ पहले से ही रहता है । इसी प्रकार हमारे आत्म स्वरूप को ढकने वाले अनात्म संस्कारों को ही हटाना है, उनके हटते ही आत्मा स्वयं प्रकाशित हो जाता है ।

सिनेमा परदा हमेशा ज्यों का त्यों रहता है, चाहे परदे पर आग लगने का दृश्य हो, वर्षा का दृश्य हो, रक्त बहने का दृश्य हो, कुआँ खोदने का दृश्य हो किन्तु परदा अछूता ही बना रहता है । इसी तरह आत्मा परदे पर तीनों अवस्थाएं आती-जाती रहती है, देह की अवस्थाएं बदलती रहती है परन्तु आत्मा अछुता ही रहता है, लोहार की निहाई की तरह कूटस्थ ही बना रहता है ।

आपका कर्तव्य निश्चल आत्मा रूप होकर रहना है । अपने विकारी देहभाव को नष्ट कर मौन शान्त तथा मन की चंचलता से रहित चैतन्य रूप रहना है ।

''मैं यह हूँ', 'मैं वह हूँ' ऐसा न बनकर केवल 'मैं हूँ' भाव में रहना है, कुछ ऐसा–वैसा नहीं बनना है । आप जो सदा से हैं वैसे ही निरुपाधिक रहो । आपका वास्तविक स्वभाव केवल होना है । किसी भी प्रकार की कोई क्रिया करना आपका स्वभाव नहीं है ।

आत्म समर्पण का मतलब स्वयं को उस मूल कारण में मिला देना । मूलकारण परमात्मा ही है । जैसे लहर का जल रूप बोध हो जाना ही समर्पण है उसमें मिलाने हेतु हमें कहीं बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है । इसी तरह परमात्मा हमारे देह के भीतर ही साक्षी रूप से विद्यमान है, उसी में अपनी सोऽहम् वृत्ति को स्थापित करना है, यही शरणागति है ।

देखकर मानने की आदत इतनी प्रबल होगई है कि आप अपने होने को भी देखकर मानना चाहते हैं । जैसे हम अपने पिता–माता से ही उत्पन्न हुए हैं किन्तु इसे किसी प्रकार प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता इसी तरह आत्मा अप्रमेय होने के कारण उसे दृश्य वस्तु रूप नहीं देखा जा सकता । जब बिना इन्द्रिय के मैं रूप में ही परमात्मा जाना जाता है यह वेद का अन्तिम सत्य अपरिवर्तनशील सिद्धान्त है । देखो ! तुम तुम्हारे होने को इन्कार भी नहीं कर सकते हो, किसी इन्द्रिय द्वारा प्रमाणित भी नहीं कर सकते हैं और दिखा भी नहीं सकते । तो फिर ऐसा अप्रमेय आत्मा तुम ही हो । विश्वास करो और तुम सुखी रहो ।

**अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।**
**अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ।।**

–२/१८ गीता

# ध्यान देने योग्य

जो अपना कल्याण चाहते हैं उन्हें सर्व प्रथम यह जानना चाहिये कि मैं शरीर नहीं हूँ । यदि कोई साधक मैं शरीर हूँ मानकर किसी प्रकार की कठिन तपस्या, व्रत, उपवास, प्राणायाम, कुण्डलिनी, जागरण का साधन करे, प्रवचन पढ़े, सुने, वेदान्त ग्रन्थ लिखे, सुनावे उस देहात्मवादी का कल्याण कभी नहीं हो सकेगा ।

अतः मैं शरीर नहीं हूँ आत्मा हूँ इस प्रकार विचार करेंगे तो मन से चिन्तन, बुद्धि से निश्चय और वृत्तियों से हमारा सम्बन्ध विच्छेद हो जावेगा और चैतन्य आत्मा 'है' सत्ता ही शेष रह जायगी ।

जीव को कर्तृत्व–भोक्तृत्व मिटाना नहीं है प्रत्युत् इनको अपने में स्वीकार नहीं करना है । क्योंकि यह चिदाभास जीव के धर्म है, अपने साक्षी, आत्म स्वरूप में नहीं है । साधक को चाहिये कि वह क्रिया को महत्व न देकर अपने अकर्ता–अभोक्ता साक्षी चैतन्यात्मा में ही श्रद्धा, निष्ठा करे ।

मनुष्य शरीर विवेक प्रधान है अपने को चैतन्य जीवात्मा न जानकर जड़ नश्वर विकारी देह मानना तो पशुता है । इसी बात को शुकदेव जी राजा परिक्षित् को कहते हैं –

**त्वं तू राजन् मरिष्येति पशुबुर्द्धिममां जाहि ।**
**न जातः प्राग भूतोऽद्यदेहवत्वं च नङक्ष्यसि ।।** भागवत : १२/५/२

हे राजन् ! अब तू पशु बुद्धि छोड़ दे कि मैं मर जाऊँगा । जैसे शरीर पहले नहीं था, पीछे पैदा हुआ और फिर मर जायगा, इसी तरह तू पहले

नहीं था, पीछे पैदा हुआ है और फिर मर जायगा, ऐसा नहीं है । हमारा देह से सम्बन्ध नहीं है बल्कि हमारा अपने अंशी परमात्मा से नित्य सम्बन्ध है । अंश का अंशी से सदा एकत्व रहता है । परमात्मा से कभी हमारा सम्बन्ध टूट नहीं सकता एवं देह से हमारा सम्बन्ध कभी जुड़ नहीं सकता ।

यह संसार द्वन्द्वात्मक है । यहाँ केवल दो ही तत्त्व है, तीसरा तत्त्व ही नहीं है । जैसे एक जड़ दूसरा चैतन्य, एक दृश्य दूसरा द्रष्टा, एक अनात्मा दूसरा आत्मा, एक शव दूसरा शिव, एक क्षेत्र दूसरा क्षेत्रज्ञ । अब यदि दो में से एक को हम देखलेते हैं, जान लेते हैं, अनुभव करलेते हैं या अस्विकार करलेते हैं तो फिर हम ही देखने वाले, जानने वाले, अनुभव करने वाले, अस्वीकार करने वाले, चेतन ज्ञान स्वरूप नित्य आत्मा शेष रहजाते हैं, जिसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता । यह क्षेत्र शरीर मैं नहीं यह बात यदि आप सिद्ध करलेते हैं तो फिर क्षेत्रज्ञ, परमात्मा, हमारा स्वरूप स्वतः सिद्ध ही है । यह संसार द्वन्द्वात्मक होने से एक से हमारा सम्बन्ध छूट जाये तो दूसरे हम ही होंगे । हमारे अतिरिक्त कोई तीसरा है ही नहीं। संसार से, देह से हमारा माना हुआ सम्बन्ध टूट जाय तो परमात्मा हमारा सत्य स्वरूप होगा क्योंकि हम उन्हीं के अंश हैं ।

परमात्मा को हम जाने या न जाने, माने या न माने किन्तु परमात्मा से हमारा कभी वियोग, दूरी या सम्बन्ध विच्छेद हो नहीं सकता । मिलने एवं बिछूड़ने वाली सम्पत्ति,शरीर, पद, अवस्था के साथ हमारा सम्बन्ध नहीं हो सकता ।

जिस पर अपना अधिकार न चले उस शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन बुद्धि को अपना मानना मुर्खता है क्योंकि हमारे न चाहने पर भी रोग, दुःख, बुढ़ापा, मृत्यु होते हैं । गर्भ में आते ही मृत्यु शुरु हो जाती है । एक अवस्था मरती है दूसरी अवस्था उत्पन्न होती है ।

**देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।**
**तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ।।** गीता : २/१३

बाल, युवा, वृद्ध यह तीन अवस्था, स्थूल शरीर की है । देहान्तर प्राप्ति सूक्ष्म शरीर तथा कारण शरीर की है और जब तक जीव का इस सूक्ष्म शरीर से मैं भाव रहता है तब तक यह बना रहता है । जीव का जब ब्रह्म में मैं भाव जाग्रत हो जाता है तभी इन तीनों शरीर से छुटकारा प्राप्त होता है ।

देह त्याग के बाद जो हमारे साथ न जा सके, जिसे मौत हमारे न चाहने पर भी छीन ही लेती है उसे कदापि अपनी सम्पत्ति न जानो ।

जब हम तीन अवस्था, तीन शरीर, तीन गुण नहीं है, तब उनकी कोई क्रियाएँ, चिन्तन, ध्यान, समाधि से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है ।

शरीर तो भोगायतन है जिसमें जीव सुख–दुःख का भोग करता है । जैसे थाली, ग्लास, कटोरी, चम्मच, भोजन रखने का स्थान है, प्राण भोक्ता है, मन सुख–दुःख का अनुभव करता है । मैं मन का भी साक्षी हूँ । यह मेरा वास्तविक स्वरूप है ।

जो परमात्मा की प्राप्ति करना चाहता है, उसके लिये यही सरल, सुगम, सुसाध्य साधन है कि वह परमात्मा के सम्बन्ध में कोई विशेष धारणा न बनावे । जैसे कि वह चतुर्भूज, मुरलीवाला, धनुषवाला, त्रिशूलवाला वैकुण्ठ वासी है । परमात्मा अखण्ड होने से सर्वव्यापक है । जो सर्वव्यापक है उसका चिन्तन भी सर्वरूप में ही होगा, कोई रूपविशेष में नहीं हो सकता। इसलिये कहा है –

**जड़–चेतन जग जीव यत, सकल राम मय जानी ।** रामायण

**नेह नानास्ति किंञ्चन ।**

अज्ञानी अध्यस्त शरीर को पहले देखता व मानता है जबकि अधिष्ठान स्वरूप आत्मा प्रथम है । जैसे घट दर्शन में मिट्टी, अलंकार दर्शन में स्वर्ण प्रथम दृष्टिगोचर होता है, घट व अलंकार जो कार्य रूप अध्यस्त है उनकी प्रतीति तो बाद में होती है । यदि मंद अन्धकार में अधिष्ठान रस्सी प्रथम प्रतीत न होती तो वहाँ सर्प भ्रम भी नहीं हो पाता या मिट्टी न हो तो घट

दर्शन नहीं हो सकता । इसी तरह तुम अधिष्ठान आत्मा के बिना देह प्रतीति नहीं हो सकती । शरीर की प्रतीति होने के लिये चैतन्यात्मा की उपस्थिति प्रथम आवश्यक है । मैं आत्मा जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति के बिना भी रहते हैं । शरीर, अवस्था, इन्द्रिय, मन, बुद्धि का भावाभाव, परिवर्तन सबको अपने अनुभव में आता है किन्तु अपने अभाव का अनुभव कभी किसी को नहीं आता है । क्योंकि मैं नित्य एकरस आत्मा हूँ ।

देश बदलता है, काल बदलता है वस्तुएँ बदलती है, परिस्थितियाँ बदलती है, शरीर का रूप, अवस्थाएँ बदलती है, ऋतुऐं बदलती है, पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य की गतियाँ बदलती है किन्तु मैं सब अवस्थाओं में समान ही विद्यमान् रहता हूँ । जो बदलता रहता है वह हमारा स्वभाव नहीं है । अनादि से आजतक अनन्त शरीर बदले किन्तु मैं वही हूँ, मुझ में परिवर्तन नहीं । बदलने वाला दृश्य, 'नहीं' में चला जाता है । और नहीं बदलने वाला एकमात्र 'मैं' ही रह जाता हूँ, 'है' ही रह जाता है ।

मैं शरीर नहीं हूँ इस प्रकार विचार करने से शरीर व वृत्तियों से हमारा माना हुआ सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है और चिन्मय 'है' सत्ता शेष रहजाती है जो मैं हूँ । इसलिये तत्त्व प्राप्ति के बोध में निषेधात्मक विचार साधन प्रमुख है ।

यदि अभी हमें यह बोध हो जाय कि मैं आत्मरूप परमात्मा ही हूँ तो अभी बिना कुछ किये जीवन्मुक्त ही हूँ । नाशवान् दृश्य पदार्थों को मैं–मेरा मानकर ही जीव बन्धता है ।

याद रखे ! स्थूल शरीर की क्रियाएँ, सूक्ष्म शरीर का चिन्तन एवं कारण शरीर का ध्यान, समाधि, कुण्डलिनी जागरण इत्यादि कोई भी अवस्था अथवा वृत्ति आपके काम की नहीं है । यह सब प्रकृति की अवस्थाएँ हैं । जबकि आप परमात्मा के अंश है । शरीर जड़ है, आप चेतन है । जड़ का प्रभाव चेतन पर नहीं पड़ सकता । जैसे अमावश्या रात्रि का घोर अन्धकार सूर्योदय के प्रकाश पर अपना कोई प्रभाव नहीं डाल सकता । उसके प्रकाश को मन्द नहीं कर सकता । भूल हमारी यही है कि हमने

मन, बुद्धि, शरीरादि दृश्य वर्ग को अपना मान रखा है, जो आपके तीन काल में भी नहीं हो सकते ।

**मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ।** गीता: १५/७

यह शरीर, मन, बुद्धि प्रकृति के अंग है और आप परमात्मा के अंश है । '

''**ममैवांशो जीव लोके जीवभूतः सनातनः**'' १५/७ गीता

इसलिये प्रकृति में स्थित अभिमानी जीव ही सुख–दुःख का भोक्ता बनता है किन्तु जीव साक्षी, आत्मा तो असंग ही रहता है । उस पर प्रकृति का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है । जैसे स्फटिक मणि पर किसी भी रंग का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है । आप असंग, साक्षी मात्र है ।

'**असङ्गो ह्ययं पुरुष**' बृहदा.उप. ४/३/७

जिस जाति की जो वस्तु होती है उसी जाति पर उसका प्रभाव पड़ता है । शरीर पंचभूतों से बना है, इसीलिये यह शरीर अग्नि से जल जाता है, शस्त्र से कट जाता है, पानी में सड़ जाता है और पवन में सुख या फांसी लगने से मर जाता है । आप अपंचभौतिक है, इसलिये अग्नि, शस्त्र, जल तथा वायु का आप पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता है ।

जैसे अपने कहलाने वाले किसी मनुष्य, सम्बन्ध व पशु के शरीर को उसके कष्ट को अपना नहीं मानते हैं, उसके मन–बुद्धि को भी हम अपना नहीं मानते है, इसी तरह अपना कहलाने वाला इस शरीर, व इसकी अवस्था तथा इसके मन–बुद्धि व सुख–दुःख से भी हमारा उन असंख्यों शरीर, मन, बुद्धि की तरह कोई सम्बन्ध नहीं है । जैसे अरबों–खरबों शरीर दृश्य है, उसी तरह यह एक शरीर भी दृश्य है । जब हम अरबों–खरबों शरीर, इन्द्रिय, मन–बुद्धि, सुख, दुःख को अपना नहीं मानते हैं तब इस एक शरीर को ही अपना क्यों माने ? अतः शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि को अपना मानने का भ्रम छोड़दे तो आप तत्काल ही धन्य हो सकते हैं। धन्य होना भी क्या ! प्रत्युत् हम सर्वदा से धन्य हैं ही । किन्तु आनन्द स्वरूप होकर भी हम देह संघात् में अंहबुद्धि कर दुःखी बन रहे हैं ।

इसीलिये श्रीकृष्ण कहते हैं '**परधर्मो भयावह**' देह को मैं मानने वाला बारम्बार जन्म–मृत्यु को प्राप्त होता है ।

श्रम साध्य प्रत्येक वस्तु, स्थिति, मिलकर नष्ट होने वाली है । अनात्म वस्तु के लिये ही साधन, श्रम, समय की अपेक्षा रहती है । अभ्यास से तत्त्वज्ञान, आत्मबोध, आत्म साक्षात्कार, आत्मानुभूति, आत्म दर्शन कभी नहीं हो सकता ।

**अविचार कृतो बन्धो विचारान्मोक्षो भवति ।**
**तस्मात्सदा विचारयेत ।** पैङ्गल उप. १८

विवेक विचार द्वारा विस्मृति स्मृति जाग्रत करना मात्र साधन है । अतः हे साधकों ! तुम ज्ञान, विवेक, विचार का आदर करो, मानलो तो अभी ही आप धन्य–धन्य हो सकते हो, निहाल हो सकते हो । मुक्त तो हो पर बन्धन की भ्रान्ति हो रही है, भ्रान्ति से छुटकारा होना ही नित्यप्राप्त मुक्ति का पाना है । जो सत्य है, उसका कभी अभाव नहीं होता है तथा असत्य की कभी सिद्धि नहीं होती है ।

**नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः ।**
२/१६ गीता

मिली हुई, बिछुड़ने वाली वस्तु अपनी नहीं होती यह अकाट्य सिद्धान्त है। अपनी वस्तु वह होती है जिसे पाने के लिये कुछ साधन करना नहीं पड़ता । **ममैवांशो जीवलोके जीव भूतः सनातनः** यही एक हमारी स्थिति सत्य है जिसका कभी वियोग नहीं होता है । अंश–अंशी नाम मात्र के भेद है वस्तु एक ही सत्य है । आत्मा है जिसका कभी वियोग नहीं होता है बल्कि वही हम है । बल्कि उसे जानना ही पाना है । जिसके जानने के बाद कुछ और जानना, पाना, शेष नहीं रहता है । जबतक पाने की मांग बनी रहती है तथा वह कोई अनित्य, परिच्छिन्न, एकदेशीय अनात्म वस्तु ही हो सकती है । वह सांसारिक धन, पुत्रादि नाशवान् पदार्थ ही है ।

याद रखें ! जन्म से लेकर जो कुछ हमें पिता–माता से, परिवार, सम्बन्धी, समाज से, जीविका, कर्म क्षेत्र से उपाधियाँ प्राप्त हुई है वह सब में

कभी नहीं हो सकता न वह सब मेरा हो सकता है । यह ही यथार्थ तत्त्वज्ञान है जो जीवन्मुक्ति का प्रमूख साधन है । शेष ब्रह्मलोक तक के सभी अनात्मा अहंकार बन्धन का ही कारण है ।

मैं अव्यक्त निराकार अशरीरी चैतन्य आत्मा हूँ । मैं जड़ एवं नश्वर शरीर नहीं हूँ । शरीर प्रतिक्षण बदलता रहता है और मैं अनादि से आजतक नहीं बदला । शरीर यहीं छूट जाता है, जला दिया जाता है पर मैं अक्षर आत्मा शरीर से पृथक् होने से कभी नाश नहीं होता हूँ। मकान, वस्त्र, अलंकार से आप जैसे पृथक् हैं, इसी तरह शरीर से भी आप पृथक् ही हैं ।

संसार की अनित्य वस्तु पाने में इच्छा, प्रयत्न तथा प्रारब्ध होने से ही वह प्राप्त होती है किन्तु नित्यप्राप्त परमात्मा को पाने के लिये केवल स्मृति की ही आवश्वकता रहती है । इसके लिये पुरुषार्थ व प्रारब्ध की जरूरत नहीं रहती है । क्योंकि वह सदा से मिला हुआ ही है । उसके लिये जानना अर्थात् ज्ञानमात्र ही साधन है ।

**परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्य कृतः कृतेन ।**
**तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।।**

मुण्डक १/२/१२

परमात्मा कर्मों से नहीं मिलते । कर्मों से मिलने वाली वस्तु नाशवान् ही होती है । परमात्मा अविनाशी होने से ज्ञान द्वारा ही प्राप्त होते हैं । क्योंकि ज्ञान नित्यतत्त्व है । अनित्य एवं जड़ कर्मों द्वारा नित्य, चेतन परमात्मा की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती ।

तुम्हारे व परमात्मा के मिलन में कर्म, पाप या मन रुकावट नहीं डाल सकता । परमात्मा से ज्यादा शक्तिशाली पाप, काम, क्रोध, लोभ, मोह नहीं हो सकते । यदि परमात्मा को पाप रोकदे तो ऐसे कमजोर शक्तिहीन परमात्मा को पाकर करोगे भी क्या, जो पाप से डरता है ?

●●●

# आत्मा को कैसे जाने ?

आत्मा को जानना नहीं है, आत्मा होकर रहना है । क्या आप बिना दर्पण के अपने होने को इन्कार कर सकेंगे कि मेरे पास दर्पण नहीं है, तो मैं कैसे जानू कि मैं हूँ ? यद्यपि आप अपनी आँखों को नहीं देख सकते, तथापि आप अपनी आँखों के होने को इन्कार भी नहीं कर सकते । दिखाई पड़ता है तो आँख होना स्वतः प्रमाणित हो जाता है, किसी से पूछने की जरूरत नहीं कि मुझे आँख है या नहीं । सुनाई पड़ता है तो मेरे कान हैं किसी से पूछना नहीं पड़ता कि मेरे कान है या नहीं ? इसी प्रकार मैं सब जानना हूँ तो मैं चैतन्य आत्मा हूँ । मुझे सब जानने में आता है बस यही मैं आत्मा होने का प्रत्यक्ष प्रमाण है ।

**न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बन्धो न च शासनम् ।**
**न मुमुक्षा न मुक्तिश्च इत्येषा परमार्थता ।।** १० ब्रह्मविन्दु उप

वास्तविक परमार्थता तो यह है कि साधक ऐसा समझे कि न मन का निरोध है न उत्पत्ति है, न बन्ध ही है, न शासन है, न मोक्ष की इच्छा है और न ही मुक्ति है । अर्थात् यहां एक ब्रह्म के अतिरिक्त न कोई जीव है, न कर्म है न पुण्य–पाप है, न स्वर्ग नरक है, न बन्ध है, न मोक्ष है, न कोई संसार है ।

हमें जो करना है वह यही कि स्वयं आत्मा को शरीर के साथ एक रूप मानने की गलती को दूर करना है । हे साधकों ! स्वयं आत्मा को पाने का साक्षात्कार करने का कभी मार्ग मत पूछो । वह आत्मा तुम स्वयं ही

हो । आत्मा सर्वप्रकाशक, सबके भीतर है । बाहर अनात्म जड़ शरीर है । अतः आत्मसाक्षात्कार हेतु अपने हृदय मन्दिर में भीतर झाकों ।

मैं यह हूँ , मैं यह नहीं हूँ ऐसा कहने के लिये मैं का होना जरूरी है । इस अहंकार के मूल की तलाश करो तो समस्त मिथ्या अहं नष्ट हो जावेगा और सत्य अहं प्रकट हो जावेगा । 'मैं कौन हूँ' इसके जन्म स्थान को ढूंढ निकालने से सब अहं कृत वृत्तियाँ लुप्त हो जावेगी और शुद्ध आत्मा शेष रहेगा । यदि यह अहं विचार नष्ट हो जावे तो न जगत् रहेगा न दुःख रहेगा जो तुम हो । यह अहं विचार के मूल उद्‌गम स्थान की तलाश करने से यह नलकी मैं नष्ट हो जाता है । तब आप जो है वह पूर्ण सत्ता बच रह जाते हैं, वही आप अपना परमधाम समझकर वहीं बसे रहें । आपतो क्या संसार का प्रत्येक प्राणी अपने परमधाम से कभी पृथक् हुए नहीं, और न कभी वे हो सकेंगे । जिसका जो मूल उद्‌गम वस्तु होता है उससे उत्पन्न कार्य कभी पृथक् नहीं हो सकता । जैसे अलंकारों का मूल परमधाम स्वर्ण है । इसलिये उससे अलंकार कभी दूर हुए ही नहीं ।

जबतक अपने लिये 'करना' है तब तक कर्तापन का अहंकार बना है । कर्तापन के बिना अपने लिये करना सिद्ध नहीं होता । इसलिये अपने उद्धार हेतु किसी प्रकार के कर्म साधन किया जायगा तो उसमें साधन करने का अहंकार ज्यों का त्यों बना रहेगा । अहंकार पूर्वक किया गया साधन मुक्ति प्रदायक नहीं होता है । श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि सम्पूर्ण क्रियाएँ पारमार्थिक क्रियाएँ होने पर भी प्रकृति में ही हो रही है । स्वतःसिद्ध, स्वयं प्रकाश आत्मबोध हेतु केवल स्वरूप स्मृति के अतिरिक्त किसी अन्य क्रिया की जरूरत नहीं है । अपरा प्रकृति में ही क्रिया की जरूरत है ।

शरीर **अपरा** प्रकृति है और जीव व परमात्मा '**परा**' प्रकृति है । परा प्रकृति जीव अव्यक्त है एवं अपरा प्रकृति शरीर व्यक्त है । शरीर के पहले अव्यक्त आत्मा है एवं देह त्याग पर पुनः अव्यक्त रहता है। मध्य में ही शरीर धारण के कालतक व्यक्त–सा होता दिखाई पड़ता है । परन्तु व्यक्त तो शरीर होता है जीव तो शरीर रहने पर भी अव्यक्त ही रहता है ।

**अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।**
**अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ।।** गीता २/२८

जैसे मकान, मठ, घट बनाने से पूर्व, बन जाने पर तथा टूट जाने पर भी आकाश तो ज्यों का त्यों एक, अखण्ड, अविकारी ही बना रहता है । घटाकाश, मठाकाश, उदराकाश, कण्ठाकाश, हृदयाकाशादि केवल, घट, मठ, उदर, हृदय, कण्ठादि उपाधि सम्बन्ध से उन–उन नामों से आकाश पुकारा जाता है । अव्यक्त रूप में सभी चराचर को परमात्मा की ही प्राप्ति हो रही है । जो सबको बिना साधन के प्राप्त है, वही परमात्मा अखण्ड, सर्वव्यापक, सर्वाधिष्ठान हो सकता है ।

**अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च** १०/२० गीता
तथा
**आदावन्तो च यत् नास्ति वर्तमानेऽपि तत् तथा ।**

जो आदि अन्त में नहीं केवल मध्य में ही प्रतीत होता है, वह वर्तमान में दिखने पर भी उसे नहीं अर्थात् असत्य ही जानना चाहिये ।

शरीर अपरा प्रकृति का अंश होने से प्रकृति में ही स्थित रहता है और जीवात्मा परा प्रकृति का अंश होने से सदा परमात्मा में ही, कार्य अपने कारण में ही, अध्यस्त अपने अधिष्ठान में ही स्थित रहता है ।

**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।**
**मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ।।** गीता १५/७

जीव को अपने सहज स्वरूप की अज्ञानता होने के कारण वह प्रकृति में स्थित शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि को अपना स्वरूप मानने की महान भूल करलेता है । इसलिये मैं शरीर से पृथक् द्रष्टा, साक्षी, आत्मा हूँ, यह बात शिघ्रता से उसे समझ में नहीं आती है ।

साधक की सबसे बड़ी भूल यही है कि वह परमात्मा के साथ सोऽहम् भाव न करके प्रकृति में स्थित शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन–बुद्धि में सोऽहम् भाव, मैं भाव, आत्मभाव कर लेता है । प्रकृति स्थित देह संघात्

जो प्रतिक्षण गर्भ से ही बदल रहा है उसमें मैं–मेरा भाव करना ही जीव के दुःख व बन्धन का एकमात्र कारण है ।

**देहो देवालयः प्रोक्तः सजीवः केवलः शिवः ।।**१०।। स्कन्द उप.

वास्तव में हम मकान में नहीं रहते हैं किन्तु मान लेते हैं कि हम अमुक फ्लेट, अमुक मंजिल, अमुक कमरे में रहते हैं । सभी भूत एवं शरीर न तो गॉव–शहर में, न मकान–फ्लेटे में , न जमीन या मन्जिल पर रहता है बल्कि सभी एक आकाश में ही रहते हैं । इसी तरह हम शरीर में नहीं रहते हैं किन्तु मान लेते हैं कि मैं स्त्री हूँ, मैं पुरुष हूँ । सत्य बात तो यह है कि हम सब परमात्मा में ही हैं । क्योंकि अंशी से अंश कभी पृथक् नहीं है ।

आत्मा साक्षात् तुम सर्वदा हो केवल उसके अनुभव करने के मार्ग भिन्न–भिन्न है । गुरु आत्मानुभूति में होने वाली रुकावटों को दूर करता है । गुरु मिलने के पूर्व से ही आत्मा तुम हो, गुरु भी आत्मा है । तुम न शरीर हो और न गुरु शरीर है ।

कोई संत नाम दान के लिये प्रसिद्ध है । शिष्य उनसे नाम प्राप्त कर लेते हैं । आत्मा का दान, नाम का दान कभी कोई नहीं कर सकता है । यदि कोई मानता है कि मैं आत्म दान, नाम दान, मुक्ति दान, आनन्द दान करता हूँ, करूँगा तो फिर उसे मूर्ख ही जानना चाहिये । क्योंकि आत्मा सभी जीवों में पूर्ण, अखण्ड, सच्चिदानन्द, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, ही है । इसके लिये कुछ देना–लेना, करना–पाना शेष नहीं है । क्योंकि प्रत्येक जीव में जन्म से मृत्यु तक उस परमात्मा का नाम श्वाँस–श्वाँस में सोऽहम् रूप से चल रहा है, गुरु केवल उस नाम का भान, अनुभव करदेता है । जो गुरु शिष्य को नाम दान करते है वह केवल चंचल मन को शान्त कराने का एकमात्र साधन है । उन नाम जप से कल्याण नहीं होता है ।

**गंगा पापं, शशि तापं देन्यं कल्पतरुं**
**पापं तापं च दैन्यं हरेत साधुसमागमः ।**

चन्द्र ताप का हरण करता है, सूर्य शीत का हरण करता है, गंगा पाप का हरण करती है, कल्पवृक्ष दीनता का हरण करता है किन्तु निर्मल ज्ञानी

महात्मा के शरणापन्न होने से यह चारों फल एक ही स्थान पर प्राप्त हो जाते हैं ।

आत्मा एक अद्वितीय ज्ञान स्वरूप है फिर मुझे आत्मा का ज्ञान नहीं है ऐसा कहना ही अज्ञान है । आत्मा के अलावा कोई ज्ञान स्वरूप नहीं है । परमात्मा नित्य, सर्वव्यापक, सर्वाधिष्ठान होने से अभी यहाँ और तुम्हारे रूप में हैं ।

स्वयं से बाहर किसी पदार्थ का देखना, जानना, खोजना तो इस देह मन्दिर के भीतर चैतन्यात्मा होने का प्रत्यक्ष एकमात्र प्रमाण है । क्योंकि अनात्मा जड़ पदार्थ तो किसी को न देख सकता है, न जान सकता है, न किसी पदार्थ को खोज सकता है ।

मैं हूँ, मैं देखता हूँ, मैं जानता हूँ यह कोई चेतन पुरुष ही कह सकता है और यह चेतन आत्मा तुम स्वयं ही हो ।

जब भक्त भगवान् के दर्शन की बात करते हैं तो वहाँ देखने के लिये आपका उपस्थित रहना जरूरी है एवं आप द्रष्टा से भिन्न उस दृश्य वस्तु या व्यक्ति का होना भी आवश्यक है । दृश्य दिखने के बाद वहाँ से द्रष्टा के दूर होने पर वह दृश्य व्यक्ति या वस्तु अदृश्य हो जाती है किन्तु देखने वाला मैं द्रष्टा सर्वत्र एवं शाश्वत है । दिखाई पड़ना, दर्शन का होना, द्रष्टा की सत्यता को प्रमाणित करता है । बिना द्रष्टा के दृश्य को कौन प्रमाणित करेगा ? जैसे जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था का दर्शन, परिवर्तन वर्णन एवं उनका अनुभव अखण्ड, एकरस, द्रष्टा, आत्मा ही प्रमाणित करता है और सर्व दृश्य को प्रमाणित करना यह आत्मा होने को प्रमाणित करता है । द्रष्टा के बिना दृश्य का दर्शन एवं वर्णन सम्भव नहीं है ।

क्या साक्षात्कार का मतलब किसी एक व्यक्ति के धनुष, त्रिशूल, मुरली, शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये मूर्ति का दर्शन हो जाना है ? यदि मन कल्पित इष्ट मूर्ति के दर्शन हो जावे तो भी क्या लाभ ? बिना आत्मा के ज्ञान किये संसार बन्धन के कारण अज्ञान का नाश नहीं हो सकता । सब प्रकार के दर्शन, बाहर से मिलने वाले अनुभव केवल कल्पना एवं भ्रम मात्र है । यदि दर्शन से कल्याण होजाता तो अर्जुन को भगवान्

कृष्ण द्वारा गीता उपदेश नहीं करना पड़ता ।

याद रखे ! द्रष्टा कभी अपने आपको दृश्य की तरह नहीं देख सकता । तो क्या कोई ऐसा कह सकता है कि मुझे सामने कुछ नहीं दिखाई पड़ता है इसलिये मैं नहीं हूँ ? नहीं ! ऐसा कोई, कभी नहीं कह सकता । किन्तु मेरे बिना किसी दृश्य का होना भी सिद्ध नहीं होता है । अपनी सत्ता तो बिना दृश्य के भी प्रकट है । अन्धकार में भी हमें हमारा होना प्रकट ही रहता है । मैं हूँ रूप में सभी अज्ञानी, ज्ञानी, बच्चा, जवान, बूढ़ा अपने को अनुभव करते रहते हैं । अतः मैं हूँ यह अनुभव जो प्रतिक्षण हो रहा है, यह स्वयं शिव है, यही तुम हो ।

**अहं आदिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च** – गीता : १०/२०

भगवान् ही सभी जीवों का आत्मद्रष्टा रूप में विद्यमान हैं । तथा वही सबका आदि, मध्य तथा अन्त भी है ।

**देहो देवालयः प्रोक्तः स जीवः केवलःशिवः ।**
**त्यजेदज्ञान निर्माल्यं सोऽहं भावेन पूजयेत् ।।** २/१ मैत्रेय.
१० स्कन्द. उप.

देह को देवालय समझना चाहिये उसमें रहने वाला जीव ही शिव है जो देह से सर्वथा पृथक् एवं असंग है ।

जब आपको किसी क्षण किसी क्रिया के द्वारा मन में सुख आता है लेकिन वह सब समय नहीं रहता, जो तब था किन्तु वह अब नहीं है । अतः तब व अब को जानने वाले, आनन्द आने से पहले व आनन्द समाप्ति को जानने वाले, अनुभव करने वाले, आप तो अवश्य ही हैं । अतः आप आत्मा सत्य हैं, कभी मिलने वाला एवं मिलकर बिछुड़ने वाला सुख मिथ्या है ।

जाग्रत, स्वप्न में मैं पना बना रहता है । इसी कारण स्थूल व सूक्ष्म व्यवहार होता रहता है । किन्तु सुषुप्ति अवस्था में मैं पना अविद्या में उतने समय के लिये लीन होकर बना रहता है । इसलिये वहाँ किसी प्रकार का कोई व्यवहार नहीं होता है । वहाँ मैं पन होकर भी प्रतीत नहीं होता है ।

जब पुनः बुद्धि की जाग्रत अवस्था होती है तब यह मैं पन एवं व्यवहार पुनः खड़ा हो जाता है । सुषुप्ति अवस्था में मैं पने का अहंकार न रहने पर किसी प्रकार का व्यवहार तो नहीं होता है परन्तु मुझ साक्षी आत्मा की सत्ता विद्यमान रहती है । यदि सुषुप्ति अवस्था में मैं न रहता तो नींद टूटने पर सुषुप्ति के आनन्दानुभूति का कथन जाग्रत होने पर कैसे व कौन बताता कि मैं सुख से सोया 'मुझे कुछ पता नहीं चला' इतना तो मुझे पता था ही अन्यथा कैसे कहता कि मुझे कुछ पता न चला । इससे सिद्ध हुआ कि मैं आत्मा तीनों अवस्था में विद्यमान् रहती है ।

मैं साक्षी आत्मा मिथ्या अहम् के भावाभाव को जानता रहता हूँ । परन्तु अपने अभाव का आज तक किसी को भी अनुभव नहीं हुआ । क्योंकि में अखण्ड सत्ता मात्र हूँ । देह, मन किसी अवस्था में जाए, चाहे देह छोड़ नूतन अन्य देह भी क्यों न प्राप्ति करले पर हमारा अभाव किसी क्षण नहीं होता है । चाहे यह जीव कर्मानुसार ८४ लाख योनियों में भटकता पशु, पक्षी, कीट, पतंग, भूत, प्रेत, देवी–देवता बने परन्तु समस्त परिवर्तन होने पर भी मेरा परिवर्तन, वियोग, अभाव नहीं होता है । मैं ही एक मात्र अपरिवर्तनशील आत्मा हूँ ।

सबका अनुभव है कि अहंकार हर क्रिया, अवस्था पर बदल जाता है । जैसे शरीर में अहंकार कर मैं किशोर, मैं यूवा, मैं प्रौढ, मैं रोगी, मैं बूढा, कर्मक्षेत्र में मैं दानी, मैं कृपण, मैं मजदूर, मैं मास्टर, मैं दर्जी, मैं नाई, मैं धोबी, मैं सुनार, मैं डाक्टर, मैं इन्जीनीयर, मैं रिटायर्ड हूँ। यह जीव रिश्तों में जुड़कर मैं सधवा, मैं बाँझिन, मैं विधवा, मैं कुंआरी इत्यादि समस्त अनात्म अहंकार होना बहुरूपिया पना है, बनावटी पना है । बदलने वाली अवस्था को अपनी मानना ही बन्धन है, इन सबमें रहने वाली एक अखण्ड सत्ता मात्र ही हमारा स्वरूप है । जो सब जगह, सब अवस्था में, सब समय में है जिसका कहीं अभाव नहीं, उसकी प्राप्ति में देहाध्यास ही बन्धन का कारण है ।

हम परमात्मा के अंश होने से हम सदा परमात्मा के साथ है । परमात्मा हमारे साथ है । जीव दृष्टि से हम किसी भी योनि में जाए किन्तु

**चेतन अमल सहज सुख राशि ही बने रहते हैं** । शरीर की संसार के साथ एकता है । हमारी परमात्मा के साथ एकता है । पाप–पुण्य हमें छूते ही नहीं, यदि हम यह परम सत्य सिद्धान्त की बात मानले तो जीव को अभी–अभी ही मुक्ति है ।

हमारी भूल यही है कि संसार के पदार्थ, व्यक्ति, सम्बन्ध एवं अवस्थाएं जो हम से मिलकर बिछुड़ने वाले हैं, उन्हें अपना मान लेते हैं और जो हमारे से सदा सम्बन्ध बना हुआ है, सदा रहने वाला है **ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातन ।** १५।७ गीता उसे हम अपना मानते नहीं ।

मैं आत्मा हूँ, मैं परमात्मा हूँ, मैं द्रष्टा, साक्षी हूँ यह बात चिन्तन, भजन, जप, माला करने की तरह नहीं है । यह तो अपने शरीर के नाम, जाति की तरह मानने की बात है । शरीर के नाम, जाति, सम्बन्ध को जो हम नहीं है और जो हमारे नहीं है एकबार जानकर हम बिना माला, जप चिन्तन के भी जीवन पर्यन्त भूलते नहीं है । इसी तरह जो हम हैं ही उस आत्मा की सहज स्मृति बनी रहनी चाहिये । यही हमारे सच्चे ज्ञान की पहचान है ।

जैसे यह मोटर, टी.वी. मोबाइल, साइकिल, कुत्ता, गाय, वृक्ष, पौधा को केवल एकबार जानलेते हैं फिर उन्हें भूलते नहीं है और बारम्बार जप, चिन्तन, ध्यान उन–उन वस्तुओं का नहीं करते । इसी तरह हम परमात्मा के हैं । यह बात हमें दृढ़ करना चाहिये ।

**देहात्मज्ञानवज्ज्ञानं देहात्म ज्ञान बाधकम् ।**
**आत्मन्येव भवेद्यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते ।।** बराह उप. २/१५

जिस प्रकार अनेक जन्मों के दृढ़ संस्कारों से अज्ञानी व्यक्ति मैं देह ही हूँ ऐसा मानता है । उसी प्रकार मैं आत्मा हूँ ऐसा जो निष्ठापूर्वक दृढ़ता से जानलेता है, वह मुक्ति की इच्छा न करते हुए भी मुक्त है । जैसे वृक्ष पर पका फल बिना इच्छा के भी पृथ्वी को स्वतः प्राप्त हो जाता है ।

आनन्द आपका स्वभाव है । आनन्द किसी दृश्य बाह्य पदार्थ या व्यक्ति में नहीं है । आनन्द की घटनाओं में मन आत्मा में ही डूबकी लगाता है । लेकिन मैं आनन्द स्वरूप आत्मा हूँ, यह सुषुप्ति अवस्था से प्रत्येक

व्यक्ति को परमात्मा द्वारा अनुभव कराया जाता है । फिरभी अज्ञानी व्यक्ति उस प्राप्त आनन्द को बाह्य वस्तुओं पर आरोपित कर कहता है कि मुझे उस पदार्थ या व्यक्ति से आनन्द मिलता है । परन्तु सुषुप्ति अवस्था इस भ्रम को दूर कर देती है । क्योंकि वहाँ कोई वस्तु और व्यक्ति नहीं है फिर भी आनन्द सभी को प्राप्त होता है, ऐसा सभी का अपना अनुभव है ।

आप यदि आत्मा, परमात्मा, ईश्वर, भगवान् को अपने से पृथक् मानते हैं तो फिर आपका माना हुआ पृथक् भगवान् जड़ ही होगा, शिव नहीं शव ही होगा, स्वयं प्रकाश नहीं, पर प्रकाश ही होगा, आत्मा नहीं अनात्मा ही होगा, द्रष्टा नहीं दृश्य ही होगा । अतः ईश्वर, आत्मा, परमात्मा और मैं यह चार नहीं, एक ही है, केवल नाम का ही भेद है । आत्मा को जानने वाला जीव, परमात्मा, जगत् तथा ईश्वर को जान लेता है, क्योंकि मुझ आत्मा से ईश्वर, जीव, जगत् कोई भी भिन्न नहीं है ।

अज्ञानी ईश्वर को सर्वज्ञ मानते हैं । किन्तु एक ईश्वर ही सम्पूर्ण नाम, रूप में विद्यमान होने से उससे भिन्न किञ्चित् भी अन्य नहीं तब वह अन्य के अभाव में किसे जानेगा ? जहाँ आत्मा से भिन्न कुछ अन्य हो तभी तो किसीको जानना सम्भव हो सकेगा ।

घटाकाश अपने को घट उपाधि से भिन्न जानले तो वह महाकाश रूप तत्काल ही रह जाता है । इसी प्रकार जीव अपने को देह उपाधि से भिन्न जानले तो वह तत्काल ब्रह्म रूप ही रह जाता है ।

**घटे नष्टे यथा व्योम व्योमैव भवति स्वयम् ।**
**तथैवोपाधिविलये ब्रह्मैव ब्रह्मवित्स्वयम् ।।** आत्मोपनिषद २२,२३

जैसे घट नष्ट होने पर घट के अन्दर वाला आकाश, महाकाश रूप होता है उसी प्रकार देह एवं जीव उपाधि के विलय होने पर ब्रह्मज्ञानी आप स्वयं ब्रह्म ही शेष रह जाता है ।

हम जब भी किसी वस्तु को देखते हैं तो उनमें सर्व प्रथम प्रकाश को देखते हैं । प्रकाश जहाँ नहीं पहुँचता है, वहाँ का पदार्थ, स्थान दिखाई नहीं पड़ता । इसी प्रकार संसार दिखाई पड़ने से पूर्व चैतन्य ज्ञान प्रकाश पहले

है उसके बिना जड़ वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता । अतः प्रत्येक दिखाई पड़ने में, जानने में, अपना अर्थात् चैतन्य ज्ञान स्वरूप आत्मा का होना जरूरी है । पर इस सत्य को कोई नहीं जानते। सभी मनुष्य पदार्थ को ही सत्य जानते रहते हैं । जैसे सिनेमा हाल में परदे पर दिखाई पड़ने वाले चित्र के पहले प्रकाश होता है फिर उस पर फिल्म ढलती है । प्रकाश के बिना परदे पर कुछ आकृति दृष्टिगोचर नहीं होती है । किन्तु सभी दर्शक फिल्म को ही महत्व देते हैं । प्रकाश की सत्यता को कोई स्वीकार नहीं करते हैं ।

आकाश स्थित सूर्य का पृथ्वी पर रखे हजार घड़ों में प्रतिविम्ब पड़ता है तो वहाँ आकाश स्थित एक सूर्य ही सत्य है और प्रतिविम्बित हजार सूर्य नहीं हैं बल्कि हजार सूर्याभास है । इसी तरह एक चैतन्यात्मा का असंख्यों देह रूप घड़ों में भरे बुद्धि जल में चिदाभास पड़ता है उसके कारण अज्ञानी असंख्यों आत्माएं मान लेता है । जबकि एक अखण्ड आत्मा ही सत्य है, अनेक चिदाभास भासमान होने पर भी मिथ्या ही है, असत् ही है। अतः तुम न देह हो, न बुद्धि हो और न बुद्धि में पड़ने वाले प्रतिविम्ब जीव हो बल्कि इन सबसे पृथक् कूटस्थ जीव साक्षी सर्वप्रकाशक एक चैतन्यात्मा हो । जगत् के साथ तुम्हारा किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है ।

ज्ञानी की अखण्ड समाधि बनी रहती है, उसमें लगना–छूटना नहीं होता क्योंकि आत्मा अच्यूत, अखण्ड, नित्य है । आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है इसलिये समाधि से व्युत्थान होने का, समाधि टूटने का कभी कोई भय नहीं रहता है । अतः साधक को सदा अपने को अखण्ड अद्वितीय आत्म स्वरूप नित्य, सहज, समाधिस्थ ही समझ कर रहना चाहिये । जाग्रत अवस्था में नित्य निरन्तर आत्मा भाव में रहना सहज समाधि है ।

अखण्ड आत्मा में मिश्री, लवण, की तरह एकमात्र रस ही है । आम, केला की तरह भीतर–बाहर का भेद नहीं है । इसलिये अखण्ड परमात्मा में अन्तर्मुखी वृत्ति एवं बहिर्मुखी वृत्ति का भेद नहीं है ।

जैसे मकड़ी जाला बनाने के लिये उपादान एवं निमित्त कारण दोनों है। इसी तरह ईश्वर भी जगत् रचना के लिये उपादान एवं निमित्त दोनों कारण है । जैसे सूत्र की माला में सूत्र की ही गांठ लगा–लगा कर मणके बना दिये जाते हैं इसी तरह परमात्मा ही नाना जगत् रूप है । कपड़ों की गठरी कपड़े से भिन्न नहीं है, इसी तरह जगत् एवं जगदीश भिन्न नहीं है ।

**मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।**
**मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।।**७/७ गीता

जैसे सूत्र से सूत्र के मणियों को गुथ कर सूत्र माला बनती है, वह सूत्रमणके सूत्र से जैसे अभिन्न है, इसी तरह इस सम्पूर्ण जगत् का मैं ही एक मात्र उपादान व निमित्त कारण हूँ । मुझ से भिन्न इस कल्पित संसार का कोई अन्य परम कारण नहीं है । जैसे उत्पन्न मकड़ी के जाले का मकड़ी ही उपादान व निमित्तकारण होती हैं उसमे भिन्न कोई दूसरा कारण नहीं होता है ।

अतः यह निश्चित रूप से जानलें कि यहाँ एक ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है । जैसा विचार करेंगे, जैसी मति बनावेंगे वैसी ही, गती मानी जाती है ।

'**जानत तुमहि तुमहि होई जाई**'' – रामायण

**ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति**' ।

जो तुम नहीं हो उसका विचार चिन्तन मत करो, बल्कि जो तुम हो ब्रह्मात्मा उसी का निरन्तर चिन्तन करो कि वही मैं हूँ । स्मृति को जाग्रत करो । विस्मृति ही बन्धन है एवं स्मृति ही मुक्ति है ।

**अविचार कृतो बन्धो विचारान्मोक्षो भवति ।**
**तस्मात् सदा विचारयेत् ।।** पैङ्गल. उप. २

मैं देह हूँ इस अविवेक, अविचार, अज्ञान के कारण ही जीव बन्ध होता है एवं आत्म ज्ञान द्वारा मुक्त होता है । इसलिये जीव को सदा आत्म विचार ही करना चाहिये ।

यह सत्य ही नहीं परम सत्य बात है कि हम परमात्मा के अंश है । अमृत की सन्तान है । **'अमृतस्यपुत्रा' ।**

**ईश्वर अंश जीव अविनाशी**
**चेतन अमल सहज सुख राशि ।।** – रामायण
**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातन** – १५/७ गीता
**ईशावास्यमिदं सर्वं।।** – ईशवाश्य उप.

इसलिये हमें अभी से ही परमात्मा को खोजने, पाने, भिन्न रूप से जानने की, याद करने, लिखने, पढ़ने के कुसंस्कारों का त्याग करदेना चाहिये । बल्कि मैं ब्रह्म हूँ यह चरम सत्य बात को अभी से मान लेना चाहिये । जैसे छोटा बच्चा यह मेरी माँ है, यह मेरे पिता है, यह मेरी बहन है, यह मेरा भाई है मान, फिर जीवन भर यही धारणा उसके मन में बनाये रखता है । उन झूठे सम्बन्धों में कभी सन्देह नहीं करता है और न उन सम्बन्धों का जप या चिन्तन करता है, फिर भी भूलता नहीं है। ऐसे ही आप भी बिना सन्देह के अपने परम पिता परमात्मा को जानलो एवं मैं उनका अंश हूँ यह मान लो । हमें केवल 'विस्मृति' हुई है अन्यथा परमात्मा, मुक्ति, आनन्द के सम्बन्ध में पाना, करना कुछ नहीं है । हम वही हैं जिसे हम पाना चाहते हैं । हम वहीं पर ही हैं जहाँ हम पहुँचना चाहते है । अतः अपनी विस्मृति को स्मृति में बदलो । सोऽहम् निष्ठा में अभी से जीना प्रारम्भ करो ।

पढने, सुनने, लिखने के अभ्यास द्वारा कोई भी लेखक, पण्डित, वक्ता, प्रवक्ता हो सकते हैं किन्तु हमारा देहाध्यास रूप बन्धन जैसा का तैसा ही बना रहता है । किन्तु जब हमें किसी श्रोत्रिय–ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु के द्वारा यह बोध जाग्रत हो जाता है कि हम परमात्मा के हैं, परमात्मा हमारा है । हमें इस संसार में पाने जैसी कोई श्रेष्ठ वस्तु नहीं । हमें किसी पद, पदार्थ, व्यक्ति, वस्तु की चाह नहीं । मैं पूर्ण हूँ, पूर्ण का हूँ, 'पूर्ण मदः पूर्णमिदं' इस निष्ठा से बढ़कर कोई तप नहीं, कोई भक्ति नहीं, कोई दान नहीं, कोई तीर्थ नहीं, कोई यज्ञ नहीं है । कोई विद्या नहीं हैं । कोई श्रेष्ठ फल नहीं है । (स्वामीजी की अन्य पुस्तक ''जानो फिर मानो'' में विस्तार

से वर्णन किया है ।) यह विज्ञान सहित ज्ञान ही सब विद्याओं का राजा, सब गोपनीय का राजा, अति पवित्र, अति उत्तम, अति सरल प्रत्यक्ष फल देनेवाला, धर्मयुक्त साधन करने में बड़ा सुगम और अविनाशी है ।

**राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।**
**प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ।।** ९/२: गीता

इस वास्तविक बात को स्वीकार करने के लिये मानने के अतिरिक्त कुछ न पढ़ना है, न कोई आँख बन्द कर कल्पित ज्योति का ध्यान करना है, न प्राण गति को ऊपर चढाना है, न कुण्डलिनी का जागरण करना है, न कोई जप–माला करना है । न संन्यास लेना है, न जंगल गुफा में अजगर, साँप, चूहें की तरह घुस बैठना है । जो परमात्मा यहाँ नहीं, अभी नहीं, मेरे रूप में नहीं वह कभी अखण्ड नहीं हो सकता । जो सत्य है, अखण्ड है, व्यापक है, तो फिर वह यहाँ भी है, अभी ही है और मेरे रूप में भी है ।

**यदवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ।**
**मृत्योःस मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।।** कठोप २/१/१०

जो चैतन्य आत्म सत्ता इन समस्त देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि में भास रहा है , वही ब्रह्म देह से बाहर भी अस्ति, भाति, प्रिय रूप में है । ऐसे अखण्ड आत्मा के होने पर भी जो अज्ञानी इस आत्मा में भेद देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को बारम्बार प्राप्त करता है ।

संसार की प्रत्येक वस्तु मुल्य देकर प्राप्त की जाती है । दुकानदार आपके रुपयों से कम दाम की वस्तु अपना मुनाफा, किराया, नौकरों का वेतन, बिजली, फोन आदि का खर्च उस वस्तु की खरीदी कीमत में जोड़कर तुम्हें ५० रुपये की वस्तु को १००–१५०–२०० रुपये दाम लेकर बेचता है । तभी उसका धन्दा घरखर्च चलता है । इस प्रकार वस्तु की कीमत कम होती है व आपके रुपये उससे दो गुने तीन गुने ज्यादा होते हैं तब वह वस्तु आप को मिलती है।

यदि भगवान् भी किसी यज्ञ, तप, जप, माला, भजन, कीर्तन, त्याग, यात्रा की कीमत चुकाने से मिलता है तो फिर वह परमात्मा बाजारी

वस्तु की तरह घटिया कीमत का होगा व आपके ध्यान, भजन, तप, यज्ञ दानादि साधन उस परमात्मा से ज्यादा कीमती होंगे । परमात्मा को पाने के लिये हमारे पास कोई क्रिया, वस्तु, शक्ति नहीं जिसे चुकाकर, देकर हम उसे प्राप्त कर सकें । परमात्मा तो इच्छा मात्र से प्राप्त होता है क्योंकि वह सूर्यवत् अखण्ड है बस उस ओर दृष्टि को घुमाना है । परमात्मा ही विश्व में एकमात्र ऐसी वस्तु है जो इच्छा मात्र से उपलब्ध होता है । शेष सभी वस्तुएँ कीमत चुकाकर मिलने पर भी नाश को प्राप्त हो जाती है ।

**अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।**
**यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ।।** गीता ८/५

जो साधक अन्तकाल में भी मुझ को ही स्मरण करता हुआ शरीर को त्याग करता है, वह मेरा साक्षात् स्वरूप को ही प्राप्त होता है क्योंकि वह मुझ से कभी एकक्षण भी अलग था नहीं, तो मिलना, प्राप्त करना भी वाणी का विलास मात्र है ।

**सन्मुख होहि जीव जब मोहि ।**
**जन्म कोटि अघ नाशहुँ ताहि ।।**

जैसे सूर्य दर्शन के लिये उस ओर चलकर जाना नहीं पड़ता । सूर्य तो जहाँ तुम हो वही से प्राप्त है । इसी तरह परमात्मा के लिये तुम्हें घर बाहर कहीं जाना नहीं पड़ता । परमात्मा तो घर में ही प्राप्त है । तुम्हारा जीवन्त रहना ही परमात्मा होने का प्रत्यक्ष प्रमाण है ।

याद रखे ! जबतक आपको मिलने वाला सुख किसी व्यक्ति, अवस्था, आसन, समय, दिशा, स्थान या वस्तु, सामग्री पर निर्भर करता है, तब तक वह सुख पराया है, पराधीन है । पराधीन सपनेहुं सुख नाशी, परधर्मो भयावहः । आत्म सुख स्वाधीन व सहज है । आनन्द आत्मा का नित्य स्वभाव है । **चेतन अमल सहज सुखरासी** । जैसे मिश्री मिठास घन है, इसी तरह आत्मा आनन्दघन है । जैसे चीनी के सहयोग से बनने वाले व्यंजन, पकवान् रसमय होते हैं । इसी तरह मन विषयों के माध्यम से आनन्दमय होता है किन्तु वह विषय आनन्द क्षणिक है । वह आत्मा का

प्रतिविम्बित सुख है । जैसे दिन में सूर्य का तेज पूर्ण प्रकाश है किन्तु रात्रि में चन्द्रमा के माध्यम से जो प्रकाश मिलता है वह सूर्य का तेजरहित प्रतिविम्बित अल्प प्रकाश है ।

यदि पदार्थ एवं व्यक्ति में सुख माना जाय तो जिसके पास ज्यादा धन, सम्पत्ति, बड़ा परिवार है, उसे ज्यादा सुखी होना चाहिये । तथा कम धन, सम्पत्ति, परिवार वाले को कम सुखी होना चाहिये । यदि यह धारणा सत्य होती तो फिर जीव के पास सुषुप्ति में कुछ भी भोग पदार्थ न रहने से ज्यादा दुःखी होना चाहिये था। किन्तु वहाँ तो दुःख का किञ्चित् भी प्रवेश नहीं । जब कि नींद से जागकर व्यक्ति कहता है, मैं रात बहुत सुख से सोया था । फिर वहाँ तो मैं आत्मा के अतिरिक्त, अन्य कुछ भी पदार्थ नहीं था जो इसे सुख प्रदान कर सके । इस से यह स्वतः सिद्ध निश्चित हो जाता है कि मैं आनन्द स्वरूप आत्मा हूँ ।

जब अधिष्ठान मूल उपादान कारण एक है तो फिर कार्य रूप अनेक नाम क्यों न रखो कोई अन्तर नहीं पड़ता, घट, मठ नाम दो है, चूड़ी–चैन नाम दो है, जगत्–जगदीश नाम दो है पर आकाश, स्वर्ण, ब्रह्म तो एक ही है ।

जीव परमात्मा का अविभाज्य अंश है स्वर्ण–अलंकार की तरह । अथवा शरीर पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश पंचभूतों का अविभाज्य अंश है । अतः जब साधक ऐसा जानकर मानले कि संसार की एक भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो मेरी और मेरे लिये हो । तब इस वास्तविकता को स्वीकार करलेने से उसकी संसार के पदार्थों एवं सम्बन्धों की कामना समाप्त हो जाती है । क्योंकि जब कोई मेरा नहीं, कोई मेरे लिये नहीं तब मैं किसलिये, किसके लिये, किसकी कामना भी क्यों करूँ ? सर्वकामनाओं का त्याग ही सर्व का त्याग है । चित्त का त्याग सर्व का त्याग है । चित्त के रहने से संसार है । चित्त के सो जाने पर गहरी नींद में संसार नहीं । अतः जीतेजी मर जाना सीखो । अपने अनात्म देह से मेरा पन का त्याग से ही सर्व त्याग स्वतः हो जाता है । त्याग–ग्रहण मन के धर्म से मुक्त हो जाओ ।

# परमात्मा का अनुभव कैसे करें ?

अच्छा आप बतावें कि

प्रश्न : परमात्मा आखण्ड है या खण्डित ?

उत्तर: परमात्मा अखण्ड है ऐसा सभी धर्मावलम्बियों का एक मत है ।

प्रश्न : तब वह एक देश में है या सर्व देश में ?

उत्तर: सर्व देश में ।

प्रश्न : तब वह एक काल में है या सर्व काल में ?

उत्तर: सर्व काल में ।

प्रश्न : तब वह एक रूप है या सर्व रूप में ?

उत्तर: सर्व रूप में ।

प्रश्न : जब सर्वत्र एक परमात्मा है तो आप उसके एक अंश है या नहीं ?

उत्तर: हाँ मैं इस व्यापक, अखण्ड, परमात्मा का एक अंश हूँ ।

प्रश्न : क्या यह व्यापक अखण्ड परमात्मा अपने सभी जीव अंशों के बिना पूर्ण हो सकेगा ?

उत्तर: कभी नहीं ।

प्रश्न : यदि वह किसी एक अंश को भी छोड़ देगा तो वह पूर्ण कहला सकेगा ?

उत्तर: कभी नहीं ।

प्रश्न : तो फिर आप उसके एक अंश होने के नाते आपके बिना क्या वह परमात्मा पूर्ण, अखण्ड, व्यापक हो सकेगा ?

उत्तर: कभी नहीं, कभी नहीं, कभी नहीं ।

प्रश्न : तो फिर इस परमात्मा की पूर्णता, अखण्डता, व्यापकता, आप पर निर्भर करती है या नहीं ?

उत्तर: अवश्य वह मेरे बिना परमात्मा कभी पूर्ण नहीं हो सकता ।

अतः निश्चय कीजिये की मैं पूर्ण सच्चिदानन्द ब्रह्म से भिन्न नहीं हूँ।

## सद्गुरु ऋृभु व शिष्य निदाघ

महात्मा ऋभु ने अपने शिष्य निदाघ को आत्मज्ञान प्रदान कर उसे आत्म निष्ठा में ही स्थित रहने का आदेश किया । उपदेश कर गुरु अन्य शिष्यों के समीप उनकी आत्म स्थिति की परीक्षा करने चले गये । गुरु से उपदेश श्रवण कर भी निदाघ का मन अन्तर्मुखी नहीं हो सका । आत्म निष्ठा में मन स्थित नहीं हो सका ।

गुरु ऋभुदेव एक वर्ष बाद पुनः निदाघ को देखने लौट आये । निदाघ तब एक राजा की शोभा यात्रा देखने राजमार्ग पर खड़ा था । महात्मा ऋृभु भी उसे खोजते हुए निदाघ के पास जाकर कन्धे पर हाथ रख खड़े होगये। निदाघ ने भी उन्हें देखा, समझा कि यह कोई गाँव का किसान मजदूर है जो मेरी ही तरह राजा की सवारी देखने आकर खड़ा हो गया है। थोड़ी देर में राजा की सवारी निकली तब ऋृभु ने अनजान बनकर पूछा भाई ! यहाँ क्या बात है जो इतनी भीड़ लगी है ? निदाघ ने कहा – जानता नहीं । यहाँ अभी राजा की सवारी निकलने वाली है । ऋृभु ने कहा अच्छा ! तब तो मैं बड़ा भाग्यशाली हूँ, मैं भी राजा का दर्शन करलूँगा पर भैया ! मुझे यह बता देना कि उस निकलनेवाले जुलुस में कौनसा राजा है ?

निदाघ ने कहा – वह जो आनेवाले हाथी पर बैठा है वह राजा है, तब ऋृभु ने पूछा कि इनमें हाथी कौन है और राजा कौन है ? निदाघ ने कहा अरे मुर्ख ! तुझे इतनी भी समझ नहीं कि इनमें राजा कौन है एवं हाथी कौन है ?

अरे भैया ! नाराज मत हो, मैं गाँव का आदमी हूँ पहली बार शहर आया हूँ ।

तब निदाघ ने गुस्से में कहा तू जरा नीचे थोड़ा झुकजा तो मैं तुझे अच्छी तरह से समझा देता हूँ कि जो ऊपर है वह राजा है और जो नीचे है वह हाथी है अनजान बन गुरु ऋभु नीचे झुके व निदाघ घुड़ सवारी की तरह ऊपर चढ़ बैठा व कहा अब अच्छी तरह से समझ लेना कि यह जो मैं ऊपर हूँ वह राजा है और जो तू नीचे है वह हाथी है। निदाघ ने कहा अब तेरी समझ में आगया कि नीचे हाथी कौन है राजा कौन है ?

किसान रूप ऋभुदेव ने कहा– यह जो अभी आपने कहा कि मैं जो ऊपर हूँ वह राजा और तू जो नीचे है वह हाथी, यह तो ठीक समझापर भैया ! यह ऊपर नीचे का भेद भी समझा दे कि कहाँ से कहाँ तक ऊपर है व कहाँ से कहाँ तक नीचे है, तथा यह 'मैं' 'तू' का भेद का क्या आधार है ?

यह प्रश्न के उत्तर देने में निदाघ घबरागया व विचार में डूब गया कि जब इस किसान को मैं ऊपर बताने गया किन्तु अब किसान वह मुझको 'तू' कह रहा है कि तू ऊपर राजा जैसा और मैं नीचे हाथी जैसा, यह ऊपर नीचे का भेद ऋभु से सुन निदाघ समझ गया कि वह बाह्य दृष्टि से हटा अर्न्तदृष्टि कराने वाले अवश्य मेरे गुरु ऋभुदेव के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो सकते। जिन्होंने मेरी देह दृष्टि से मुझे हटाकर आत्मदृष्टि को जाग्रत करने के लिये यहाँ पर अभिनय किया है। निदाघ शिघ्र ऊपर से उतर गुरु चरणों में गिर गया। गुरु से कहा बस ! तुझे इतने ही ज्ञान की जरूरत थी। मैं के सिवाय तू नहीं व तू के बिना मैं की सिद्धि नहीं है। इसलिये मैं ही स्वतन्त्र है। इस प्रकार सब शरीरों में एक मैं की ही चेतन आत्म सत्ता विद्यमान है। मैं के अतिरिक्त वह और तू जैसा कोई अन्य व्यक्ति नहीं है। सब अपने को मैं ही कहते हैं। चाहे आप किसी को तू कह कर सम्बोधित करे कि तू कौन है ? या किसी को 'वह' कहे, पर तू या वह जब भी अपना परिचय देते हैं तो मैं मोहन हूँ, मैं सोहन हूँ कहकर ही परिचय देते हैं। इसलिये मैं एक ही है। मैं का बहुवचन नहीं होता। देह, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि से जुड़ा मैं मिथ्या है। इसलिये वह दूसरे मैं को ही तू कहता है। ऊपर–नीचे का भेद देह अभिमान से होता है। इसी प्रकार मैं और तू

भेद भी देह अभिमान से होता है । परन्तु वास्तव में भेद नहीं है । सुषुप्ति में तू नाम का व्यक्ति नहीं है इसलिये वहाँ मैं अहंकार भी उदय नहीं होता है । दृश्य ही द्रष्टा को पैदा करता है । यदि दृश्य असत्य है तो द्रष्टा साथ-साथ असत्य हो जाता है । जब बेटा नहीं रहेगा तो बाप उपाधि भी समाप्त हो जाती है । केवल पुरुष बच रहता है । इसी प्रकार मैं-तू का भेद समाप्त होते ही चेतन सत्ता मात्र शेष रहजाती है । इसी तरह एक अखण्ड सत्ता में अन्दर-बाहर का भेद भी मिथ्या है । जैसे मिश्री भीतर-बाहर कुछ अन्य नहीं केवल एक रसघन है, इसी तरह सृष्टि एक सत्घन है । सत आत्मा के अतिरिक्त ऊपर-नीचे, भीतर-बाहर, मैं-तू, यह-वह का भेद नहीं है ।

**यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ब्रह्म समुश्नुते ।**
**अथ मृर्त्योऽमृतो भवत्येताबद्धयनुशासनम् ।।** कठोप.२/३/१५

जिस समय किसी श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की कृपा से शरणागत जिज्ञासु की देहात्म बुद्धि नष्ट हो जाती है और आत्मनिष्ठा जाग्रत हो जाती है तब उसकी समस्त अविद्याजन्य ग्रन्थियाँ नष्ट हो जाती है । उस समय अज्ञानता से अपने को मरण धर्मा माननेवाला जीव आत्म साक्षात्कार द्वारा अमर हो जाता है और इसी वर्तमान शरीर से वह आत्मनिष्ठ ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है । उसकी सभी प्रकार की कामनाएं भस्मीभूत हो जाती है । यदि उसके मन में किसी प्रकार की चाह, कामना शेष है तो फिर उसे ब्रह्मात्म साक्षात्कार नहीं हुआ ऐसा जानना चाहिये ।

**भिद्यते हृदय ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः ।**
**क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।।**

मुण्डक उप. २/२/८

सद्गुरु की कृपा से जब मुमुक्षु समस्त अनात्म अध्यास से भिन्न अपने असंग, अखण्ड, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त निरुपाधिक आत्म स्वरूप को जान लेता है तब अनायास ही इसकी जड़-चेतन की गांठ खुल जाती है । तब इसके समस्त कर्म ज्ञानाग्नि में भस्म हो जाते हैं। अब इस आत्मनिष्ठ ज्ञानी को पाने योग्य कुछ शेष नहीं रहा । यह ब्रह्म एकत्व भाव को देह में रहते हुए ही प्राप्त हो जाता है । देह त्याग होने पर इसके प्राण अज्ञानी की तरह

किसी बाहरी देश में नहीं जाते हैं, क्योंकि अब यह पूर्ण काम, आत्म काम एवं निर्वासना रूप हो चुका है ।

**ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।** १ ईशा. उप

यह निरुपाधिक ब्रह्म पूर्ण है और यह नाम, रूप सोपाधिक कार्य ब्रह्म भी पूर्ण है क्योंकि पूर्ण से प्रकट हुआ है । इसलिये यहाँ अखण्ड ब्रह्म सत्ता के अतिरिक्त कुछ भी अन्य नहीं है ।

**यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ।**
**मृत्योः स मृत्यु माप्नोति इह नानेव पश्यति ।।** कठ.उप.२।१।१०

जो यहाँ नाम रूप जगत् भास रहा है वह ब्रह्म ही है । **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** छान्दो.उप.३/१४/१ । तथा जो भक्तों की भावना अनन्य लोक प्राप्त करने की सदा बनी रहती है तो वे भी जानले कि वहाँ, यहाँ से ज्यादा कुछ अन्य नहीं है, जो यहाँ है वही अस्ति, भाति प्रिय रूप ब्रह्म वहाँ है । ऐसा सिद्धान्त जानने पर भी जो यहाँ-वहाँ में ऊँचा-नीचा भेद देखता है वह भेददर्शी मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त करता है अर्थात् पुनः पुनः बारम्बार जन्म-मरण को प्राप्त होता है ।

**मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन् ।**
**मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ।।** कठ.उप.२।१।११

यह परमात्म वस्तु सभी को प्राप्त है । विश्व में एक कण, एक सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव भी परमात्मा से भिन्न नहीं है । इसलिये यह आत्म ब्रह्म किसी कर्मकाण्ड जड़ क्रिया द्वारा अप्राप्त वस्तु की तरह प्राप्त होने वाली वस्तु नहीं है । इसे तो सद्गुरु कृपा द्वारा मन से आत्मरूप जानना है । अर्थात् वह मैं हूँ इस प्रकार के दृढ़ निश्चय की ही आवश्यकता है । जो अज्ञानी इस अद्वय, अखण्ड आत्म सत्ता में भेद देखता है । वह ब्रह्म हत्यारा मृत्यु से मृत्यु को ही प्राप्त होता है । अर्थात् बारम्बार जन्म-मृत्यु को प्राप्त होता रहेगा ।

जप से साधक का मन कभी भी पूर्ण शान्त नहीं हो सकेगा । इसकी अपेक्षा यदि जीव स्वयं को मन का द्रष्टा, साक्षी जाने, ब्रह्म रूप अनुभव करे

वो यह मन को रोकने का सर्वश्रेष्ठ अतिसरल एवं प्रत्यक्ष फल दायक साधन है ।

मैं शब्द जहाँ से निकलता है, उस अहंकार के मूल केन्द्र की खोज करें । यह बड़े से बड़ा तप है । सभी साधन का मुख्य हेतु देह दृष्टि का त्याग कर ब्रह्म और जीव के एकत्व का बोध करना है ।

ध्यान में राम, कृष्ण, शिव, विष्णु, दुर्गा आदि दिख जावे या ज्योति रूप सूर्य दिख जावे, नाद सुनाई पड़ जावे तो वहाँ रुक मत जाना । वह परमात्मा का अनुभव नहीं है, वह सब माया है । नमस्कार कर आगे बढ़ जाना, वह सब माया विघ्न रूप है ।

**नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः ।**
**मूढ़ोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ।।** गीता : ७/२५

यह शरीर एवं सृष्टि स्थूल है, जो दिखाई देती है । इसमें यह नाम, रूप सब माया का विकार है किन्तु इसके भीतर जो सूक्ष्म अस्ति, भाति, प्रियरूप आत्म तत्त्व है वह किसी को दिखाई नहीं देता । जैसे बुरखे वाली महिला सब कुछ देखती रहती है जो उसके आँखों के सम्मुख प्रकट हो रहा है । किन्तु कोई भी दर्शक उस बुरखें में छिपे आकार को नहीं देख पाता है । इसी तरह आत्मा सूक्ष्म तत्त्व है, इसलिए वह इन्द्रियों द्वारा दिखाई नहीं पड़ता है बल्कि आत्म शक्ति का अंश मात्र प्राप्तकर यह सब इन्द्रियाँ अपना कार्य करती है । किन्तु साधक अज्ञानता वश उसे अपने नेत्र से देखने की इच्छा कर नित्य प्राप्त आत्म स्वरूप को जानने से वंचित् शिक्षित भी रह जाता है । मूढ़ लोगों की तरह मुझ जन्म-मरण रहित परमात्मा को देहधारी मनुष्यों की तरह जन्मने-मरने वाला मानते हैं । इसीलिये वे बार बार गिरते हैं ।

**यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते**
**तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।** १/४ ।। केन उप.

जो परमात्मा वाणी से प्रकाशित नहीं होता । किन्तु जिससे वाणी प्रकाशित होती है, उसी को तुम ब्रह्म जानो । जो देश, काल, वस्तु से

परिच्छिन्न नाम, रूप धारी भगवान् की अज्ञानी लोग उपासना करते हैं, तुम उस को ब्रह्म रूप से उपासना कभी मत करना वह ब्रह्म का वास्तविक रूप नहीं है। ब्रह्म कभी भी यह रूप से, इदम् रूप से दृष्टि के विषय अनात्म पदार्थों की तरह ग्रहण नहीं हो सकता है । परमात्मा की जिन्हें प्राप्ति हुई है उन्हें मैं रूप में हुई है कयोंकि परमात्मा पुरुषोत्तम होने से वह कभी यह या वह रूप में नहीं हो सकेगा ।

**यन्मनसा न मनुते येनाऽऽहुर्मनोमतम्**
**तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।** १/५ ।। केन उप.

इस आत्म स्वरूप परमात्मा को कोई भी साधक संसारी वस्तुओं की तरह चिन्तन, मनन नहीं कर सकता किन्तु यह मन जिस चैतन्य आत्मशक्ति का अंश लेकर मनन करने में समर्थ होता है, उसीको तुम ब्रह्मजानो । जो अज्ञानी जन नाम, रूप, देश, काल, वस्तु परिच्छिन्न सोपाधिक भगवान् की उपासना करते हैं, वह कार्य ब्रह्म परमात्मा का वास्तविक रूप नहीं है ।

जिसे कोई भी अपने अशुद्ध मन से नहीं जान सकता है, परन्तु जिस चैतन्य आत्मशक्ति द्वारा यह मन दृश्य जगत् के विषयों का मनन कर ग्रहण–त्याग करता है, वह ब्रह्म है । अज्ञानी साधक, भक्त मन को रोककर जिस कल्पित नाम, रूप वाले परमात्मा का भजन करते है, वह ब्रह्म नहीं है । अतः तुम अपने अन्तःकरण की समस्त वृत्तियों के साक्षी परमात्मा को 'वह मैं हूँ, सोऽहम्' इस प्रकार अपरोक्ष रूप से ही जानो । ऐसा जानने से ही तुम अमृत तत्त्व को सहज प्राप्त हो जाओगे ।

**एतद्विदूरमृतास्ते भवन्ति ।**
**यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षुंषि पश्यति ।**
**तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।** १/६ ।।केन उप.

इस आत्म स्वरूप अन्तर्यामी परमात्मा को कोई भी साधक इन चर्म चक्षु द्वारा सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, पशु, पक्षी, वृक्ष, लता मनुष्यादि की तरह नहीं देख सकता किन्तु जिस चैतन्य आत्मशक्ति द्वारा समस्त नाम, रूप दृश्य को इन आंखों से एवं उस नेत्र को भी देखता है, उसी को तू ब्रह्म

जान । जो इस देश, काल, वस्तु परिच्छिन्न नाम, रूप धारी व्यक्ति को भगवान् मान कर अज्ञानी उपासना करते हैं, वह ब्रह्म का वास्तविक रूप नहीं है ।

**न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं**
**नेमा विद्युतो भाति कुतोऽयमग्निः ।**
**तमेव भान्तमनुभाति सर्वं**
**तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।।** २/१/१५ : कठ.उप.

परमात्मा स्वयं चैतन्य ज्योति अर्थात् ज्ञान स्वरूप होने से उसे यह सूर्य, चन्द्र, विद्युत, अग्नि आदि जड़ ज्योति प्रकाशित नहीं कर पाते हैं । उस स्वयंप्रकाश के द्वारा ही यह सब परप्रकाश जगत् भासित होते है ।

**यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम् ।**
**तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।** १/७ ।। केन.उप.

इस आत्म स्वरूप परमात्मा को कोई भी अपने कानों द्वारा नहीं सुन सकता है परन्तु जिससे यह श्रोत्रेन्द्रिय शब्द सुनने में समर्थ होती है उसी चैतन्य आत्मशक्ति को तू ब्रह्म जान । जिस नाम, रूप धारी शंकर, राम, कृष्ण, विष्णु, दुर्गा, काली, गणेशादि की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म का वास्तविक रूप नहीं है ।

**यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ।**
**तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।** १/८ ।। केन.उप.

जिसे कोई भी प्राण के द्वारा प्राणन (चलाना) नहीं करता किन्तु जो चैतन्य आत्मशक्ति इन प्राणों को प्राणन कराता है उसी को तुम ब्रह्म जानो । अज्ञानी लोग जिस प्राण की उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं है । यदि हृदय आकाश में यह आनन्द स्वरूप आत्मा न होता तो कौन इस हाड़, मांस, मल, मूत्र, रज, वीर्ज, लार, कफ, चर्म से बने अत्यन्त गन्दे अधम शरीर में रहकर अपान वायु द्वारा प्राण क्रिया करता ?

**न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन् ।**
**इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ।।** २/२/५ कठोप.

ज्ञान, आत्मा, परमात्मा, आनन्द यह कोई भिन्न तत्त्व नहीं है । एक एवं नित्य वस्तु है, इन्हें प्राप्त नहीं करना है, प्राप्त ही है । साधन द्वारा प्राप्त पदार्थ का तो एक दिन नाश अवश्य ही होता है ।

ब्रह्मरूप पहिचानो साधो ब्रह्मरूप पहिचानो रे ।।
कान ब्रह्म नहीं, शब्द ब्रह्म नहिं, कान उसे नहिं सुनता रे ।
ब्रह्म रूप तुम जानो उसको, जो कानों में सुनता रे ।।
ब्रह्मरूप....

आँख ब्रह्म नहीं, रूप ब्रह्म नहीं, आँखों से नहीं दिखता रे ।
ब्रह्म रूप तुम जानो उसको, जो आँखों में देखत रे ।।
ब्रह्मरूप....

वाणी ब्रह्म नहीं, मन्त्र ब्रह्म नहीं, जप कर कर के हारे रे ।
वाणी जिससे प्रकाशित होय, ब्रह्म कहावत् सोय रे ।।
ब्रह्मरूप....

प्राण ब्रह्म नहीं, अपान ब्रह्म नहीं, ध्यान समाधि में नहीं आय रे ।
ब्रह्म रूप तुम जानो उसको, जो प्राणों को चलाता रे ।।
ब्रह्मरूप....

मन ब्रह्म नहीं, बुद्धि ब्रह्म नहीं, करत कल्पना हारे रे ।
मन, बुद्धि को जो जानत है, ब्रह्म कहावत सोय रे ।।
ब्रह्मरूप....

जिस मूरत को सब जग मानत, अरु जिसे ब्रह्म बतावत रे ।
उस मूरत को ब्रह्म न जानो, केन उपनिष जनावत रे ।।
ब्रह्मरूप....

कर्ता भाव को बिन त्यागे से, जीव भाव को बिन त्यागे से,
देह भाव को बिन त्यागे से, ब्रह्म निष्ठा नहीं होय रे ।
कहे निरंजन तू ब्रह्म रूप है छान्दोग्य बतलावे रे ।।
ब्रह्मरूप पहिचानो साधो ब्रह्मरूप पहिचानो रे
सोऽहम् रूप पहिचानो रे ।। शिवोऽहम् पहिचानो रे ।।

ज्ञाता–ज्ञान–ज्ञेय, ध्याता–ध्यान–ध्येय, प्रमाता–प्रमाण–प्रमेय यह त्रिपुटी कल्पित है । इसलिये यह अपना वास्तविक रूप नहीं है । समस्त त्रिपुटी से रहित त्रिपुटी का जो प्रकाशक है, वही साक्षी ब्रह्म ही अपना सच्चा स्वरूप है ।

**अहं भोजनं नैव भोज्यं न भोक्ता,**
**चिदानन्द रूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ।।**

कोई भी ज्ञेय का ज्ञान ज्ञाता के बिना नहीं हो सकता, कोई भी दृश्य का दर्शन द्रष्टा के बिना नहीं हो सकता । इसलिये जानने, देखने की मेहनत करने की बजाय जानने वाले, देखने वाले द्रष्टा का ज्ञान करने की जरूरत है कि 'वह मैं हूँ '।

**देख, देख, देखने वाले को तो देख । 'जान, जान, जानने वाले को तो जान कि वह इस मिट्टी के देह दीपक में कौन चेतन ज्योति है जो भीतर–बाहर जान रहा है एवं देख रहा है ?**

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान, समाधि आदि करके कुछ पाने की बात कर्मकाण्डी लोगों को अच्छी लगती है । इसी कारण पातञ्जल अष्टांग योग ज्यादा प्रचलित हुआ है। क्योंकि करने पाने में अहंकार को पोषण मिलता है कि हमने किया व पाया । अहंकारी को सरल में, सहज में, प्राप्त में रस नहीं है । अहंकारी को कठिन में रस है ताकि उसके अहंकार को रस मिल सके, अपने अहंकार को फैलासके । वैज्ञानिकों को चन्द्र, मंगल, शुक्र ग्रह में जाने का रस है एवं निरन्तर प्रयत्नशील है किन्तु साढ़े तीन हाथ के शरीर में प्राप्त मैं कौन हूँ ? इस आत्म अन्वेषण में उन्हें रस नहीं है । अधिकांश योगी, संन्यासी, साधु महात्माओं को अहंकारी पाओगे ।

अष्टावक्र जी कहते हैं परमात्मा को पाने की बात इतनी सरल है कि कुछ करने की जरूरत ही नहीं है । करने के एक क्षण पहले घटना घट चुकी है । क्षण भी लगना परमात्मा के लिये बहुत देरी मालुम पड़ती है । परमात्मा को पाने के लिये कुछ न करो, केवल साक्षी रहो । कार्य होने से नहीं, बल्कि साक्षी होने से ही पाओगे ।

जिन्हें कुछ बनने, होने, पाने की अभिलाषा है, वे अष्टावक्रजी की बात नहीं सुनेंगे । क्योंकि प्राप्त तत्त्व में पाने हेतु कुछ करने की गुंजाइश नहीं है । परमात्मा के सम्बन्ध में कहीं जाने की, पाने की, पहुँचने की बात सोचना ही भूल है, पाप है, अपराध है । अतः जहाँ तुम हो वहीं मन्जिल है । केवल जागो ।

शान्त होकर जरा बैठ तो जाओ । आँख खोलकर देखो कहाँ भागे, दौड़े जा रहे हो ? तुम जहाँ खड़े हो वहीं तो परमात्मा है । जिसे तुम कुछ करके, दौड़के पाना चाहते हो वह तुम ही हो । परमात्मा सबसे सरल, सुगम, सहज है, तुम उसे अपने से पृथक् कहीं व कभी भी नहीं पा सकते । यदि सर्वरूप परमात्मा सहज सुगम है तो फिर वह तुम ही हो क्योंकि तुम से अधिक निकट सहज, सुगम, सरल और कुछ प्राप्त होने जैसा पदार्थ नहीं है । लेकिन तुम अपने तरफ आँख मींचे पड़े हो ।

आजतक परमात्मा जिसे भी प्राप्त हुआ है वह मैं रूप में ही प्राप्त हुआ है । परमात्मा को यह या वह रूप में कभी भी प्राप्त नहीं होता है और जिसने उसे यह या वह रूप, दृश्य रूप, व्यक्ति रूप जाना है वह परमात्मा का वास्तविक रूप नहीं है । केन उपनिषत् प्रमाण है : **तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।**

**यस्यामतं तस्यमतं मतं यस्य न वेद सः ।**
**अविज्ञातं विजानतां विज्ञातं अविजानताम् ।** केन उप.२/३

जो यह कहता है कि मैं आत्मा को दृश्य वस्तु की तरह इन्द्रियों के द्वारा देख चुका हूँ, वेद कहता है की वह ब्रह्म को बिलकुल नहीं जानता है एवं जो यह कहता है कि मैं आत्मा को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से नहीं जानता हूँ, बस उसी ने आत्मा को अपरोक्ष रूप से, सोऽहम् रूप से ही जाना है । वही यथार्थ ब्रह्मदर्शी है ।

वृक्ष, जड़ों को खोजे की कहाँ होगी ? कहाँ मिलेगी ? यह बात सभी जानते हैं की जड़ों के बिना वृक्ष का जीवन ही कहाँ है ? वृक्ष का होना जड़ों से संयुक्त रहने का प्रमाण है । जड़ों से सम्बन्ध टूट जाये तो वृक्ष का जीवन

ही समाप्त हो जाये । मछली जल को खोजे की जल कहाँ मिलेगा ? यह उसकी अज्ञानता ही है क्योंकि मछली का जीवित रहना ही जल से संयुक्त रहने का प्रमाण है । चलते हुए पंखा, टी.वी., हीटर बिजली को ही खोजे कि वह कहाँ जाकर मिलेगी ? यह उनकी अज्ञानता ही है क्योंकि बिजली के बिना उनका क्रियाशील होना ही कहाँ है ? वे सभी उपकरण बिजली से जुड़े हुए ही हैं अथवा ट्रेन अपने आधार पटरी को खोजे की पटरी को कहाँ खोजने जाऊँ ? क्या बिना पटरी के ट्रेन खोजने जा सकेगी ? कभी नहीं। इसी तरह जीव का जीवन परमात्मा ही है । परमात्मा से सम्बन्ध टूट जाये तो जीव हो ही नहीं सकता । जीव का होना परमात्मा होने की खबर है । तुम चलते हो तो परमात्मा ही चलता है । तुम श्वाँस लेते हो तो परमात्मा ही श्वाँस लेता है । तुम देखते हो तो परमात्मा ही देखता है । परमात्मा के बिना एक क्षण भी तुम नहीं हो सकते ।

परमात्मा है तो यहाँ, अभी व तुम्हारे रूप में ही हो सकता है । उसके लिये देरी, दूरी व साधन करने की अपेक्षा नहीं । जैसे सम्मुख रखे भोजन के मिलजाने पर फिर उसके लिये तैयारी करने की, आटा, दाल, चावल लाने की जरूरत ही नहीं है ?

साधक को यह सहज विश्वास ही नहीं हो पाता कि क्या परमात्मा श्रवण मात्र से मिल सकेगा ?

जो पदार्थ पहले से होता है, उसे पाने के लिये किसी प्रकार के साधन करने की जरूरत नहीं रहती है । जो पदार्थ प्रथम से नहीं होता उसे पाने हेतु साधन करने की जरूरत होती है । परमात्मा नित्य प्राप्त है, इसलिये श्रवण मात्र से मिल सकता है ।

परमात्मा से ज्यादा साधारण कौन हो सकता है ? वह पक्षी में पक्षी जैसा, पशु में पशु जैसा, पेड़–पौधे में पेड़–पौधों जैसा, मनुष्य में मनुष्य जैसा, स्त्री में स्त्री जैसा, पुरुष में पुरुष जैसा, बच्चे में बच्चे जैसा कोयल में कोयल जैसा व कौवे में कौवे जैसा, स्वर्गीय लोक में स्वर्गीय एवं नारकीय लोक में नारकीय जैसा विद्यमान रहता है। तभी तो कहा है '**सर्वं खल्विदं**

**ब्रह्म**', '**सियाराम मय सब जग जानो**' इससे ज्यादा और क्या साधारण बात होगी ? क्योंकि परमात्मा सर्व है । परमात्मा में कोई विशेषण नहीं मिलता वह निर्विशेष ब्रह्म है ।

अज्ञानी परमात्मा को बडी दूर, महान, कठिन बताकर अपने अहंकार को पोषण देने के लिये सबसे निराला, विशेष दिखाना चाहते हैं । बड़ी से बड़ी उपमा देकर, दूर से दूर की प्राप्ति में अति कठिन बता सन्तोष मानते हैं ।

**तदेजति तन्नेजति तद्दूरे दद्वन्तिके ।**
**तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ।।** ५ ईशा. उप.

तुम जागो या न जागो, परमात्मा तुम्हारे अन्दर विराजमान् है । तुम्हारी मौजूदगी उसकी मौजूदगी की ही परछाया है । वह न होता तो तुम फिर कहाँ से होते और तुम्हारे बिना वह परमात्मा को भी कौन प्रमाणित करता । तुम्हारे बिना परमात्मा सिद्ध नहीं हो सकते ।

**सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।**
**वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ।।** गीता : ६/२१

इन्द्रियों से अतीत केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि द्वारा ग्रहण करने योग्य जो अखण्ड आनन्द है, उसको जिस अवस्था में अनुभव करता है और जिस अवस्था में स्थित यह योगी परमात्मा के स्वरूप से कभी विचलित नहीं होता है । वह ज्ञानी विषय भोग, धन सम्पत्ति अथवा स्त्री सुख के लिये आसक्त नहीं हो सकेगा ।

# जीव की नासमझी

मृग की नाभि में कस्तूरी है किन्तु नासमझी से मृग उसे बाहर खोजा करता है एवं खोज करता हुआ मर भी जाता परन्तु उसे अपने में कस्तूरी प्राप्त होते हुए भी उसके लिये वह कस्तूरी अप्राप्त–सी ही रहजाती है । यदि मृग से कस्तूरी दूर होती तो मिल जाती किन्तु जो खोजने वाले में ही है, वह चलकर कैसे प्राप्त किया जा सकेगा ? इसी प्रकार परमात्मा स्वयं है या स्वयं में है वह बाहर खोजने से कैसे मिल सकेगा ? दूरस्थ पदार्थ खोजने पर मिल जाता है, चलकर वहाँ पहुँचा जा सकता है । किन्तु जो खोजने वाले जीव के साथ ही परमात्मा चल रहा है, वह खोजने से कभी भी नहीं मिल सकेगा । जीव द्वारा परमात्मा को खोजना ही प्राप्त परमात्मा से दूरी किये हुए हैं ।

कोई धूप में खड़ा होकर पूछे कि भाई ! कोई मुझे धूप प्राप्ति का मार्ग बता दो, मुझे धूप के पास पहुँचना है तो उस मूर्ख की बात सुन कोई उसे धूप का पता बताने लगे तो उसे पागल ही जानो । इसी तरह जीव, परमात्मा स्वरूप होकर भी पूछे कि मैं परमात्मा को पाना चाहता हूँ, वह कहाँ मिलेगा ? और कोई संत वेशधारी उस अज्ञानी जीव की बात सुनकर उसे प्राप्त परमात्मा को पाने का रास्ता, साधन बताने लगे तो वह मार्ग दर्शक उस खोजनेवाले साधक से भी ज्यादा पागल कहा जावेगा । वर्तमान ऐसे ही भगवान् प्राप्ति का मार्ग बतानेवाले सम्प्रदाय सब और फैले हुए हैं । जो स्वयं भटके हुए हैं और वे भूले भटकों के मार्गदर्शक बनने हेतु आश्रम, चौकी बना बैठे हैं ।

**मछली खोजे नीर को, कपड़ा खोजे सूत ।**
**जीव खोजे ब्रह्म को, तीनो ऊतके ऊत ।।**

परमात्मा को खोजने निकले तो चूक गये, रास्ता भटक गये, रास्ता भूल गये अब वे अपने से बाहर खोजने वाले जीव इस जीवन में तो निश्चित रूप से परमात्मा को नहीं पा सकेंगे । क्योंकि उन्होंने अपने से बाहर परमात्मा को खोजने की दिशा ही गलत चुनली है । परमात्मा को तो वही पा सकता है जो सब साधन, मार्ग, खोज कर चुप शान्त बैठ अपने में साक्षी रूप में, द्रष्टा रूप में अनुभव करता है । सभी लोग परमात्मा को खोजने में लगे हुए हैं जिससे प्राप्त परमात्मा उनसे खोजने से ही छूटा जा रहा है । जो वस्तु हमारे पास प्रथम से नहीं है, उसे खोजने, मांगने, खरीदने, पैदा करने से वह प्राप्त हो जाती है किन्तु जो परमात्मा हमें पहले से ही प्राप्त है, जो हम स्वयं ही है, तो फिर उसे केवल जानो और पाओ । परमात्मा को जानना ही पाना है; क्योंकि वह हमसे दूर या भिन्न नहीं है । वह निरपेक्ष है, वह साधन सापेक्ष वस्तु नहीं है ।

पति–पत्नी के मैथुन में जो आनन्द परस्पर प्राप्त होता है, वह स्वयं का ही है केवल परस्पर एक दूसरे के आनन्द को प्रकट करने में निमित्त बनते हैं, सहारा देते हैं। जैसे कुत्ते को हाड़ चबाने में जो आनन्द मिलता है, वह स्वयं कुत्ते का ही होता है, हाड़ का रसास्वादन नहीं है। इसी प्रकार जीव को सुषुप्ति रूपी पत्नी द्वारा जो सुख मिलता है, वह जीव का निजानन्द ही है ।

सुषुप्ति में आनन्द का प्रतिविम्ब अविद्या वृत्ति में पड़ता है । मैं तो आनन्द स्वरूप हूँ और मेरे प्रतिविम्बित आनन्द का ही जीव सुषुप्ति में अनुभव करता है। क्योंकि वहाँ गहरी नींद में मुझ आनन्द स्वरूप आत्मा के अतिरिक्त अन्य सांसारिक कोई भी पदार्थ नहीं होता है ।

यदि जाग्रत जगत् के पदार्थों में आनन्द होता तो कोई भी जीव प्राप्त विषय पदार्थों के प्रतिविम्बित सुख को छोड़कर गहरी नींद में प्राप्त होने वाले ब्रह्मानन्द की इच्छा नहीं करते, किन्तु समस्त जीव गहरी नींद के अनुभूत

सुख को प्राप्त करना चाहते हैं क्योंकि वहाँ शुद्धात्मानन्द की अनुभूति होती है। जाग्रत के भोग पदार्थों को भोगकर छोड़ दिया जाता है, क्योंकि उनमें वास्तविक सुख नहीं परन्तु सुखाभास होता है, परिणाम में तो सभी विषय दुःख रूप है ।

सुषुप्ति में जो आनन्दानुभूति जीव को होती है, वह मुझ आत्मा के नित्य आनन्द का परिचय देता है कि मैं ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा हूँ ।

एक सूर्य अनेक जल पात्रों में अनेक-सा प्रतीत होता है, इसी प्रकार अनेक देहों में एक आत्मा का प्रतिविम्ब अनेक आत्मा-सा प्रतीत होता है । किन्तु यह एक ब्रह्म में अनेकता की प्रतीति भ्रान्ति मात्र है ।

दर्पण में दिखाई देने वाला जगत् दर्पण से भिन्न नहीं किया जा सकता । इसी तरह जीव के स्वरूप अज्ञानता से परमात्मा में दिखाई पड़ने वाला जीव, जगत्, ईश्वर को परमात्मा से पृथक् नहीं किये जा सकते । **आत्म स्वरूप में दृढ़ स्थिति ही सच्चा ध्यान एवं मुक्ति है** ।

जगत् में प्रसिद्ध ब्राह्मण यदि यज्ञोपवित्, जनेउ न भी पहने तो भी वह अपने को ब्राह्मण जाति वाला ही पहचानता है । यदि ब्राह्मण नाटक में शूद्र, चाण्डाल का अभिनय करता है तो क्या उसे मैं ब्राह्मण हूँ यह नाम, जाति भाव वह कभी भूलता है ? क्या वह शुद्र, चाण्डाल अभिनय करने से व्यवहार काल में अपनी ब्राह्मण जाति को भूल मैं शूद्र, चाण्डल हूँ ऐसा मान सकेगा ? कभी नहीं । इसी प्रकार जीव अपने नित्य ब्रह्म भाव को भूल देह तादात्म्यता के कारण ब्राह्मण,क्षत्रिय आदि जाति वाला मान लेने से क्या वह जीव ब्रह्म स्वरूप से गिर अन्य अनात्म जातिवाला हो सकेगा ? कभी नहीं ।

यहाँ कोई ऐसा व्यक्ति हो सकेगा जिसने परमात्मा को न देखा हो ? क्योंकि यहाँ ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है । परन्तु उसका व्यक्ति रूप में नहीं शक्ति रूप में ही, ज्ञान रूप में ही अनुभव होता है ।

जैसे सरकारी क्वाटर में रहने वाले कर्मचारी उस क्वाटर में और वहाँ के पेड़ पौधे में आसक्ति नहीं करते हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि एक

दिन तो हमें यहाँ से सब सरकारी सामान ए.सी. फ्रीज, कूलर, मोटर, फौन, मकान छोड़कर जाना ही होगा तब इसमें क्यों ममता, आसक्ति करें । इसी तरह ज्ञानी जन माया से प्राप्त इस देह, सम्पत्ति, सन्तान आदि में आसक्त नहीं होते हैं ।

तुम समस्त सिद्धियों के भी महासिद्ध हो क्योंकि आत्म सिद्धि से बड़ी अन्य कोई सिद्धि नहीं है । तुमसे मन, बुद्धि, इन्द्रिय, प्राणादि प्रकाशित होते हैं। मन चंचल है या शान्त, बुद्धि तीव्र है या मन्द, यह तुम्हारे द्वारा ही सिद्ध होता है । तुम हो तो जगत् है, तुम नहीं तो जगत् भी नहीं । तुमसे जगत् 'इदम्' रूप, यह रूप सिद्ध होता है, इदम् से अहं सिद्ध नहीं हो सकता । अनात्म पदार्थ चैतन्य के द्वारा जाना जाता है किन्तु मैं चैतन्य आत्मा, अनात्म देह संघात् का विषय कभी नहीं बनता । मैं से यह पदार्थ जाना जाता है किन्तु यह दृश्य पदार्थ मन बुद्धि द्वारा द्रष्टा को नहीं जान सकेंगे ।

ब्रह्म व्यापक तत्त्व है इसलिये उसमें हेय (त्याज्य) उपादेय (ग्राह्य) कुछ भी नहीं है । उससे भिन्न कुछ हो तभी तो उसके प्रति मन में हेयोपादेय वृत्ति जाग्रत हो ।

प्रत्येक मनुष्य पांचों विषयों को ग्रहण करते–करते जब थक जाता है तब गहरी नींद में जाकर जाग्रत में खर्च की गई शक्ति को सुषुप्ति में पुनः अर्जित करलेता है, जिसके फल स्वरूप दूसरे जाग्रत में काम करने में समर्थ हो जाता है । सुषुप्ति में जीव कारण ब्रह्म के साथ एकत्व प्राप्त कर लेता है और आनन्द अनुभव करता है किन्तु अज्ञान बना रहने से उसे पुनः संसार में आना पड़ता है । यदि सुषुप्ति में अज्ञान नष्ट होने का साधन सद्‌गुरु द्वारा ज्ञान मिल जाता तो स्वरूप बोध होते ही जीव वहीं से मुक्त हो जाता ।

## अंश–अंशी की अभिन्नता

समष्टि भूतों का अंश हमारे व्यष्टि शरीर में स्थित है । इसलिए समष्टि पृथ्वी व हमारे व्यष्टि शरीर की पृथ्वी में अभिन्नता है । क्योंकि समष्टि से व्यष्टि कभी भिन्न नहीं होता है । इसी तरह समष्टि जल से व्यष्टि

शरीर के जल में एकता है । शरीर में जो तेज तत्त्व है वह समष्टि तेज का ही अंश है । शरीर में जो वायु अर्थात् प्राण तत्त्व है, वह समष्टि वायु भूत से पृथक् नहीं है । शरीर में रहने वाला आकाश समष्टि आकाश से अभिन्न है । इस प्रकार समष्टि परमात्मा का ही अंश चेतन आत्मा, व्यष्टि शरीर में विद्यमान है । इस प्रकार व्यष्टि आत्मा और समष्टि परमात्मा एक ही तत्त्व है, जैसे घटाकाश, महाकाश से सदा अभिन्न ही है ।

इस प्रकार व्यष्टि शरीर के पंचभूत समष्टि पंचभूत से पृथक् नहीं है एवं व्यष्टि चेतन आत्मा समष्टि परमात्मा से भिन्न नहीं है ।

पंचभूत, सूर्य, चन्द्र तथा आत्मा इन आठ रूपों में स्वयं परमात्मा ही अभिव्यक्त हुआ है । पंचभूत रचित जगत् के साथ परमात्मा का बाध समाधिकरण है एवं आत्मा का परमात्मा के साथ मुख्य एकत्व अर्थात् समानाधिकरण है ।

बहुत सम्मान, सेवा, भोजन, सम्पत्ति, भूमि यदि साधक को मिले तो समझना चाहिये की मेरे पर माया की कृपा वर्षा हो रही है, जो मेरे मोक्ष में बाधक है । अतः उन वैभव को देख वैराग्य की परीक्षा का अवसर जान उसमें न फंसे । अज्ञानी जीव अनित्य माया संसार, पदार्थ, व्यक्ति पाकर हर्षित एवं गर्वित न हो ।

जब अधिक कष्ट अपमान मिले, जब जगत् की तरफ से जोर दार धक्का मिले, कभी खाने को मुठ्ठी चना भी न मिले तो जानना मेरे पर ईश्वर की विशेष कृपा हुई है । संसार के प्रति दृढ़ वैराग्य उदय होने का शुभ अवसर मिला है । मुझे मेरे द्रष्टा, साक्षी भाव की परीक्षा करने का अवसर प्राप्त हुआ है ।

जब तक संसार की तरफ से परिवार की तरफ से गहरा धक्का न लगे, गहरा अपमान न मिले तब तक संत के पास जाने की इच्छा नहीं होती है । जब लड़का, बाप से कहदे कि मेरे कमरे में मेरे बिना पूछे न आवे या बहु कहदे सास से कि मेरे लड़को को मत उठाना तो फिर सच्चा धक्का

लगता है । संत की बात सुन इतना वैराग्य नहीं जगता जितना की बहु बेटे के कटु वचन से लगता है ।

प्रत्येक त्रिपुटी का अन्त द्रष्टा, ज्ञाता में ही होता है । शब्द के साथ जानामि, स्पर्श के साथ जानामि, रूप के साथ जानामि, रसके साथ जानामि, गन्ध के साथ जानामि, मन–बुद्धि के साथ जानामि, प्राण के साथ जानामि, सुख–दुःख के साथ जानामि, भूख–प्यास के साथ जानामि, शरीरादि के साथ जानामि क्रिया लगाई जाती है किन्तु साधक इन्द्रियों के पास ही रुक जाते हैं। जो सब क्रिया को जानने वाला है वह मैं हूँ इस प्रकार अपने को जो नहीं जानता, यही अज्ञान उसके दुःख व बन्धन का मूल कारण है । अज्ञानी वहाँ से आगे बढ़ा तो मनके पास रुक जाता है । परन्तु मन के पास चेतना कहाँ से आती है, वह यह विचार नहीं कर पाता है । यह चैतन्यता किसी अन्य की नहीं बल्कि मैं ही हूँ । सभी क्रियाओं के रूप में मैं ही प्रकट होता हूँ । परमात्मा ही हृदय मन्दिर में बैठा हृदय की धड़कन चला रहा है ।

## आश्चर्य

जीवित अथवा इस नव द्वार वाले देह नगर में परमात्मा रहते हैं किन्तु प्रारब्ध समाप्ति के पूर्व इस देह से उनका प्रतिविम्ब रूप जीव नहीं निकल पाता है । जबकि रबर ट्यूब में एक कांटा लग जाने से पन्चर हो जाता है । और देह में नव छिद्र बड़े–बड़े होने पर भी यह जीव बना रहता है यह ईश्वर की कृपा का देह में महान् आश्चर्य है ।

यहाँ जो कुछ है वह सब परमात्मा है । इसलिये मैं भी परमात्मा हूँ तब मैं ऐसा क्यों सोचूँ कि मैं मर जाऊँगा । जब यह सृष्टि अनादि से है और अनन्त है तब मैं भी अनादि अनन्त ही हूँ । सृष्टि का अस्तित्व कभी समाप्त नहीं हुआ अतः मेरा भी अस्तित्व कभी समाप्त नहीं होगा ।

विश्वास जगाओ बीमारी बुढापा मृत्यु कुछ नहीं है । मैं सदा हूँ, शाश्वत हूँ, अविनाशी अमरात्मा हूँ ।

मृत्यु शरीर का स्वाभाविक धर्म है किन्तु मैं अमरात्मा नित्य हूँ, मैं मुक्त हूँ, मैं आनन्द हूँ । मैं अपने जीवन का स्वामी हूँ। मैं अपनी मृत्यु का स्वयं रचियता हूँ । अपने कर्मों के अनुसार ही जन्म, सम्बन्धी, सम्पत्ति, संयोग, वियोग, लाभ, हानि, घर, जाति, नगर, ग्राम, देशादि निश्चित कर दिये जाते हैं । जब तक चाहूँ आवागमन रूप से मैं यह लोक में रह सकता हूँ । अन्यथा आत्मज्ञान प्राप्तकर मुक्ति प्राप्त कर सकता हूँ ।

## आश्चर्य

जन्म के बाद मां बच्चे के मुख को जैसे स्तन के पास लाती है, तत्काल ही बच्चा दूध पीने लग जाता है । माँ बच्चे के मुख में स्तन देती है किन्तु पशुओं के बच्चे स्वयं मां के स्तनों को खोज दूध पीने लग जाते हैं ।

प्रतिदिन माता अन्न खाती है, उससे रस व रससे रक्त बनता है किन्तु दूध नहीं बनता । जब बच्चा पैदा होता है तो वही रक्त स्वतः स्तनों में दुग्ध रूप में परिणित हो जाता है । स्तन के निप्पल में दुग्ध निकलने के लिये कई छिद्र होते हुए भी बच्चा उत्पन्न होने से पहले उनमें से रक्त धारा नहीं बहती है किन्तु बच्चे द्वारा मुख में स्तन चूसने पर ही दुग्ध श्राव होता है । कभी–कभी अधिक दूध होने से बिना बच्चे के स्तनपान किये भी स्वतः दुग्ध श्राव होता रहता है ।

घड़े के भीतर जल में प्रतिविम्बित सूर्याभास अपने वास्तविक विम्ब रूप सूर्य को पाने की इच्छा करे तो प्रथम उसे उस घड़े व घड़े में स्थित जल के प्रति मोह का त्याग करना होगा । यदि वह प्रतिविम्ब उस सीमित जल व घड़े में पड़े प्रतिविम्ब से मोह त्याग नहीं करेगा तो वह मुख्य सूर्य होने का अहंकार कैसे कर सकेगा ?

शरीर 'यह' रूप है तुम अहं रूप हो । शरीर 'मेरा' रूप है, तुम 'मैं' रूप हो। अतः यह निर्णय कर लेना चाहिये कि मैं यह जीव रूप हूँ या मैं यह जीव का प्रकाशक आत्मा रूप हूँ । जब इस जीव को अपने यथार्थ स्वरूप का बोध हो जावे तभी सोऽहम् चिन्तन कल्याण रूप है । मैं ब्रह्म हूँ यह जप करना तभी सार्थक होगा जब आप अपने को देह से पृथक् आत्मा रूप से

स्पष्ट जान लेंगे अन्यथा मैं ब्रह्म हूँ, मैं द्रष्टा, साक्षी, आत्मा, सोऽहम्, शिवोऽहम् चिल्लाने का कोई लाभ नहीं केवल जीव का मिथ्या अहंकार मात्र है ।

गुरु सब समय शिष्यों को समझाता है कि तुम शरीर नहीं । जन्म–मृत्यु तुम्हारा नहीं । तुम अमर आत्मा हो । फिर भी मोहवश गुरु के देह त्याग पर शिष्य रोते हैं एवं उनकी समाधि मन्दिर बनाते हैं, श्राद्ध व जन्म दिवस मनाते हैं ।

निश्चय करो समाज की अन्ध परम्परा में मुझे फंसना नहीं है । क्योंकि इस समाज ने हमें वर्तमान जीवन से तोड़ बीमारी, बुढ़ापा, स्वर्ग, नरक, मृत्यु, पुण्य–पाप, राग–द्वेष, सम्प्रदाय–जाति–आश्रम में कैद कर दिया है । हमें इन अन्ध विश्वासों, परम्पराओं का विरोध करना होगा, साहस से मुकाबला करना होगा । मुर्दा धर्म की लाशों को जला, फेंक जीव को जीवित आत्मधर्म को निडरता से अपनाना होगा ।

## आश्चर्य

यह सम्पूर्ण सृष्टि परमात्मा की ही सुन्दर कृति है । यदि इन वृक्षों, पौधों, पुष्पों, फलों, सूर्य, चन्द्र, पशु, पक्षी, बच्चे को देख प्रेम अश्रु बह जाय तो यह परमात्मा की सच्ची भक्ति है । श्रद्धा से हाथ जुड़ जावे तो यह चैतन्य परमात्मा के प्रति भक्ति है । लेकिन मूढ़ लोग मनुष्य द्वारा, रचित पत्थर मूर्ति के सम्मुख तो झुक जाते हैं, हाथ जोड़ लेते हैं किन्तु परमात्मा के द्वारा निर्मित इस साकार सूर्य, चन्द्र, पशु, पक्षी नदी, वृक्ष, पुष्पादि को देख नमस्कार नहीं कर पाते हैं ।

परमात्मा सब समय जीव को सम्भाले हुए है । जीव के साथ सब समय परमात्मा है । परमात्मा के बिना जीव एक क्षण भी नहीं रह सकता अतः परमात्मा को प्राप्त करने हेतु कोई साधन करने की जरूरत नहीं है । परमात्मा हमारे भीतर न होता तो हम हो ही नहीं सकते थे । जड़ों ने ही वृक्षों को सम्भाल रखा है । यदि जड़े न हो तो वृक्ष हो ही नहीं सकता । इसी तरह प्राणी की स्थिति परमात्मा से ही है । परमात्मा ने ही उसे सम्भाल रखा है । जीव में परमात्मा ही श्वाँस ले रहा है । चोर, हत्यारे,

डाकू को भी वही जीवन दे रहा है । जब भी तुम कोई शुभ–अशुभ कर्म करने जाते हो तब वह ही तुम्हारे भीतर श्वाँस ले रहा है । उसके बिना कोई कुछ कर ही नहीं सकता । सभी कर्मों को करने की वही भीतर से शक्ति देता रहता है और तुम उसे बाहर खोज रहे हो । ओह ! देखो इस जीव की कैसी मूढ़ता है, आश्चर्य होता है इसकी नासमझी पर । अतः कर्ता न बनो केवल साक्षी रहो ।

साक्षी का मतलब चुनाव रहित स्थिति । केवल देखते रहना है । जो हो रहा है, शोभन–अशोभन, शुभ–अशुभ, पुण्य–पाप, बस देखते रहना है । मन से कहदो तेरा तू जान जो तेरी मरजी आवे वैसा कर तेरी–मेरी कोई सांझेदारी नहीं है । मैं तो तुझे देखूँगा । जहाँ जाना है जा । देखते–देखते मन अमन हो जावेगा । साक्षी की गैर मौजूदगी ही मन है । साक्षी की उपस्थिति ही मन का अमन होना है । साक्षी के सम्मुख मन नहीं रहता। जैसे प्रकाश के सम्मुख अन्धकार नहीं रहता ।

मन पर ध्यान देने से मन ज्यादा उपद्रव करता है । मन की क्रिया पर ध्यान न दो, न रोक लगाओ तो मन शान्त हो जाता है ।

जिसे तुम मौत के बाद भी ले जा सकोगे वही, तुम्हारी असली सम्पदा है । यह देह सम्बन्धी समस्त अहंकार मौत के साथ जाने वाले नहीं है । यह समस्त धन, सम्पत्ति, कुटुम्ब, परिवार का अहंकार यहीं देह के साथ जलकर भस्मसात् हो जाने वाले हैं। जिसे मौत नहीं छीन सकेगी वह है तुम्हारे किये शुभ–अशुभ कर्म संस्कार। अतः शुभ कर्मों को ही बढ़ाना चाहिये जो तुम्हें आनेवाले शरीर में भोगने को मिल सकेंगे । जो यहाँ छीन ही लिया जायगा वह छोड़ देना ही समझदारी है ।

ज्ञानी साक्षी भाव में जीता है, वह कर्म में नहीं जीता है । ज्ञानी यदि कर्म करते दिखाई दे तो भी उसे कभी कर्मी मत सोचना । ज्ञानी कर्म में कभी नहीं होता है । जिसने अपने को अकर्ता, साक्षी जाना वही ज्ञानी है । समय आने पर काम, क्रोध, लोभ, मोह, प्रेम, करुणा का अभिनय भी करलेता है । ज्ञानी भीड़ में भी अकेला है । अकेला होकर भी सम्पूर्ण विश्व को अपने से भिन्न नहीं देखता है । वह सब अवस्थाओं में प्रसन्न ही

रहता है । कोई आकांक्षा मनमें नहीं रखता है । ज्ञानी भीड़ की तरफ कभी नहीं भागता है । भीड़ की तरफ वही भागता है जिसने अपना रस नहीं चखा है, वही बाहर की तरफ खोजता है । परमात्मा भीतर है, इन्द्रियाँ उसे बाहर देखती है । ज्ञानी किसी दृश्य के साथ तादात्म्य नहीं करता है ।

यदि तुमने अपने को शरीर व प्राण के साथ एक जाना तो तुम मिटोगे । मृत्यु तुम्हें खोज–खोजकर मारेगी और यदि तुमने अपने को आत्मा के साथ एक कर लिया तो मृत्यु तुम्हारा कभी स्पर्श भी नहीं कर सकेगी ।

इस जीवन रूपी चादर में कभी भी कर्ता–भोक्ता भाव का दाग नहीं लगना चाहिये ।

**दास कबीर जतन से ओढ़ी,**
**ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया ।।**

जब हम सुषुप्ति की तरह जाग्रत तथा स्वप्न अवस्था के भी साक्षी रहे तभी यह जीवन चादर दाग रहित शुद्ध रह सकेगी । जीवन चादर गन्दी तो तब होती है जब साक्षी भाव भुलाकर कर्ता –भोक्ता भाव में जीव जुड़ जाता है । साक्षी सदा असंग,अलेपा है । वही तुम हो । बनना नहीं तुम तो प्रथम से ही बने–बनाये ही हो ।

# विश्वास करो

मैं मनुष्य के रूप में व्यक्त हुआ परमेश्वर हूँ ।

जो सर्व व्यापक है, उसी का मैं अंश हूँ अतः मुझसे बाहर कुछ भी श्रेष्ठ नहीं है या उससे बाहर मैं कुछ भी नहीं हूँ । न कुछ प्राप्तव्य है और न त्याज्य है ।

वह अखण्ड अविनाशी वस्तु मैं हूँ जो सदैव है।

जो नित्य है उसीका मैं हूँ अतः मैं भी सदैव हूँ ।

जो सर्वशक्तिमान है, उसीका मैं हूँ, इसलिये मैं भी सर्व शक्ति से पूर्ण है ।

जो सर्वज्ञ है उसीका मैं हूँ इसलिये मैं ज्ञान स्वरूप हूँ मुझ में अज्ञान नहीं है ।

जो शाश्वत है उसीका मैं हूँ इसलिये मेरा आदि–अन्त नहीं ।

खोज के दो ही मार्ग हैं या तो अपने से खोजें कि मैं कौन हूँ या अपने को सद्गुरु के समर्पण करदें । एक साधन का मार्ग है और दूसरा समर्पण का मार्ग है । बन्दर बच्चा साधन मार्ग का प्रतीक है, वह अपने बल पर विश्वास कर मां को पकड़ता है । बिल्ली का बच्चा समर्पण का प्रतीक है, वह अपने माँ पर निर्भर रहता है । मां बच्चे को पकड़कर सुरक्षित स्थान पर ले जाती है ।

यदि आपको ज्ञानी गुरु मिलगया तो वह आपको मन्जिल पर पहुँचा देगा । अन्य गुरु आपको मार्ग बतावेंगे । ज्ञानी गुरु आपको तैयार पोशाक

देगा। अन्य साधुओं से आपको सूत, धागा मिलेगा और स्वयं आपको कपड़ा बुनना होगा ।

जिनका अहं नहीं मिटा है, उन ज्ञानियों की मुक्ति नहीं होगी किन्तु उन अशिक्षितों की मुक्ति सहज हो जाती है, जो सरल एवं श्रद्धालु हैं । वे शुष्क ज्ञानी टेप रेकार्ड केसिट, सी.ड़ी, की तरह हैं जिनमें सब शास्त्र सिद्धान्त भरे तो हैं पर वे उसको ग्रहण नहीं करते । कुछ भी समझते नहीं हैं ।

यह जाने बिना कि आप कौन है ? मृत्यु के बाद हमारा क्या होगा यह जानना व्यर्थ है । पहले यह पता लगाओ कि आप क्या है ? फिर मृत्यु के बाद आपका क्या होगा यह स्वतः पता लग जावेगा कि कौन मरता है, कौन बचता है ?

देह संघात् से अहं बुद्धि हटाने पर जो शेष रहता है वह मैं आत्मा हूँ । यह मैं नहीं हूँ यह कहने के बाद जो कहने वाला, बताने वाला शेष रह जाता है, वह मैं आत्मा हूँ ।

लोग मृत्यु के विचार से डरते हैं किन्तु प्रति रात्रि जीव गहन निद्रा में जाने के लिये उत्सुक होते हैं। जबकि गहरी निद्रा में देह एवं देह सम्बन्धियों से किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं रहता है न अपने देह होने का ही भान रहता है । नींद में मन अन्धकार में रहने जैसा है किन्तु वहाँ भय नहीं लगता है ।

ज्ञानी की स्थिति में अहंकार उदय–अस्त देखने मात्र का ही है। ज्ञानी के लिये अहं बन्धन रूप नहीं होता है । वह तो जली हुई रस्सी के समान है, जो दिखाई तो पड़ती है किन्तु किसी के बन्धन का कारण नहीं होती है । अथवा सपेरे द्वारा सर्प के जहरीले दांत निकाल देने पर वह फुफकारता, डसता तो है पर उसके द्वारा किसी की मृत्यु नहीं होती है ।

जब तक आपको यह पता नहीं कि मैं कौन हूँ तब तक अन्य सांसारिक बातों को जानने का क्या प्रयोजन ? सच्चा अन्वेषण अपने स्वरूप को जानलेना है । इससे बढ़कर कोई अन्वेषण नहीं हो सकेगा ।

हमारी समस्त वृत्तियों का मूल अहम् वृत्ति है । तथा इस अहम् वृत्ति का मूल मैं स्वयं आत्मा हूँ । अतः इस आत्मा का शोध करना चाहिये, यह

मनुष्य जीवन का चरम उदेश्य है । यही आत्म विचार करना है हृदयगुफा के मध्य में केवल ब्रह्ममात्र अर्थात् मैं, मैं इस प्रकार आत्मा के रूप में प्रकाशमान हो रहा है ।

मनुष्य जीवन में एक ही सन्ताप है कि जो हम होने के लिये पैदा हुए वह हम हो न सके । जैसे बीज पौधा, वृक्ष बन न सके, पुष्प फल नहीं हो सके, बीज बीज ही रहजावे । नर्तकी नाच न सके, उसके पैरों मे जंजीर पड़ेहो । यह सन्ताप है । हमारा सन्ताप यही है कि आत्मभाव में दृढ़ता न हो के देहभाव में बन्धे हम जीवन नष्ट करते हैं ।

विचार या भावना के द्वारा हमको, आत्मा को ब्रह्म नहीं बनाना है । हम ब्रह्म तो बिना कुछ किये स्वतः सिद्ध है । जिस जीव का अन्तःकरण मल, विक्षेप दोष युक्त है उस जीव को ही द्रष्टा, साक्षी भाव का बारम्बार अभ्यास करना पड़ता है । असिद्ध तत्त्व का ही बारम्बार विचार करना पड़ता है । राजा को मैं राजा हूँ इस प्रकार जप, ध्यान, चिन्तन करना पड़े तो जानना चाहिये कि वह राजा नहीं है ।

जब तक देहात्म बुद्धि है तभी तक सोऽहम् विचार अर्थात् मैं परमात्मा हूँ कहना आवश्यक है । इस प्रकार का मनन, निदिध्यासन रूपी सूक्ष्म विचार परमात्मा के अन्वेषण का सहकारी साधन होता है । जब आत्मा के अद्वितीय भाव की सिद्धि हो जाती है, तब वह सोऽहम् चिन्तन उसी प्रकार निरर्थक हो जाता है जैसे कांटे को कांटे से निकालकर दोनों कांटे फेंक दिये जाते हैं ।

नित्य सिद्ध, स्वतः सिद्ध आत्मा का मैं रूप से बोध ही वास्तविक सिद्धि है । पामर बुद्धि वाले ही अणिमा, गरिमा आदि नश्वर सिद्धियों के प्रति आकर्षित होते हैं, जो कि स्वप्न वत मिथ्या जादुगिरि मात्र है । जो आत्म स्वरूप में सहज निष्ठा है, यही ज्ञानियों की यथार्थ सिद्धि है । जीवन्मुक्त ज्ञानियों के लिये उन विनाशकारी सिद्धियों का कोई महत्व नहीं है। जिसको पाने के लिये अज्ञानी लोग परिश्रम करते हैं ।

जिस प्रकार सूर्य को देखने के लिये अन्य प्रकाश की जरूरत नहीं रहती है क्योंकि वह प्रकाश स्वरूप है । उसी प्रकार आत्मा भी अनुभव

स्वरूप, ज्ञान स्वरूप है । आत्म अन्वेषण के द्वारा अनात्म देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि से तादात्म्य निवृत्ति होने पर वह अपने निरावृत स्वरूप में, स्वयंप्रकाश, सबके प्रकाशक रूप में शेष रह जाता है । इन्द्रियों द्वारा दृश्य विषयों की तरह उसका ज्ञान नहीं होता है ।

आत्मा **'एकमेवाऽद्वितीयं'** होने से उसका दृश्य रूप में दर्शन सम्भव नहीं है । क्योंकि दर्शन में दो की उपस्थिति आवश्यक है । जहाँ दूसरा नहीं है, वहाँ कौन किसको देखे, जाने । सत्य तो यह है कि व्यक्तित्व को समष्टि में समादेना ही आत्म साक्षात्कार, परमात्मा दर्शन है । द्रष्टा-दृश्य विवेक ही यथार्थ बोध नहीं है प्रत्युत् वास्तविक बोध का प्रारम्भिक साधन मात्र है ।

अज्ञानी देह को मैं रूप, आत्म रूप जानता है । विद्वान् देह को मैं रूप से व्यवहार में कहता अवश्य है जैसे मैं जाता हूँ, मैं खाता हूँ, मैं सुखी हूँ । परन्तु ज्ञानी के भीतर मैं के मूल स्थान ब्रह्म में आत्मबुद्धि, मैं बुद्धि स्फुरित होती रहती है ।

द्वन्द्व व त्रिपुटी का भान अपने आप में नहीं होता है क्योंकि त्रिपुटी पर प्रकाश तथा जड़ है । उनके भान के लिये किसी चैतन्य आश्रय की अपेक्षा रहती है । वह मूल आश्रय मैं हूँ। मैं के आश्रित ही सबकी स्थिति का होना सिद्ध होता है ।

यद्यपि आत्मा सर्व व्यापक है, तथापि उसका अनुभव हृदय में ही हो सकता है । जहाँ से अहम् 'मैं' स्फूरित होता है उसे हृदय कहते हैं । जिस प्रकार सूर्य प्रकाश सर्व व्यापक होने पर भी सूर्यकान्त माणि में ही सूर्य किरणों का पुंजीभाव होने से तुलाकाष्ठ, कागज, हाथ पर अग्नि प्रकट होती है उसी प्रकार ब्रह्म सर्व व्यापक होने पर भी अहम् के उदय स्थान हृदय में ही ब्रह्मानुभूति होती है, अन्यत्र नहीं है। '**हृदि सर्वस्य विष्ठितम्**' १३/१७ '**हृद्देशऽर्जुन तिष्ठति**' १८/६२ ।

ज्ञान का फल मोक्ष नहीं है प्रत्युत् ज्ञान ही मोक्ष है । ज्ञान ही ब्रह्म है '**सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म**' ज्ञान ही कैवल्य है, '**ज्ञानादेव तु कैवल्यम्**'

आत्म तत्त्व को जानने जब वृत्ति जाती है, तब आत्माकार ही हो जाती है जैसे नदी सागर से मिलकर सागर ही हो जाती है । इसी तरह जीव ब्रह्म को जानकर ब्रह्म ही हो जाता है । **जानत तुमहि तुमही होई जाई ।** रामायण '**ब्रह्मवित् ब्रह्मेव भवति**' । आत्मवित् की दृष्टि आत्माकार ही हो जाती है । अन्य वृत्ति द्वारा कोई मोक्ष का स्वरूप जान ही नहीं सकता ।

मोक्ष किसी उपासना के द्वारा प्राप्त फल रूप नहीं है । वह तो स्वतः सिद्ध आत्मा का सहज स्वरूप है, अग्नि उष्णवत् ।

जैसे कचरा फेंकने के समय उसे तौला नहीं जाता तथा उसमें क्या-क्या जाति के पदार्थ है, यह देखा भी नहीं जाता, इसी प्रकार मूल वस्तु आत्मा का बोध हो जाने पर आत्मा को ढकने वाले पदार्थों की संख्या गिनना व्यर्थ है, उन्हें असार जान भुला देना चाहिये।

जैसे अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर आदि में सत्य बुद्धि करने की जरूरत नहीं रहती । अथवा कुआँ से पानी निकालने के बाद मिट्टी, पत्थरों को तोला नहीं जाता । इसी तरह मैं ब्रह्मात्मा हूँ, यह बोध जाग्रत हो जाने पर बारम्बार मैं द्रष्टा, साक्षी, शिवोऽहम्, सोऽहम् बोलने की जरुरत नहीं रहती है ।

आनन्द बाहर नहीं भीतर है । सत्यता यह है कि इच्छा शान्त होने पर मन अपने मूल में लौट आता है । मन के शान्त होने से निजानन्द का प्रतिविम्ब पड़ता है । इसीलिये आनन्द अनुभूति होती है। इसी कारण प्रत्येक मानव को गहरी नींद में आनन्द अनुभूति समान रूप से पाई जाती है ।

विश्व को ईश्वर रूप जानना अष्ट मूर्ति उपासना है । पंचभूत सूर्य, चन्द्र एवं जीव की पूजा ही अष्ट मूर्त्ति की पूजा है । ईश्वर ही सृष्टि के आदि मध्य तथा अन्त में विद्यमान है ।

**शिवमात्मानि पश्यन्ति प्रतिमासु न योगिनः ।**
**अज्ञानां भावनार्थाय प्रतिमाः प्रिरिकल्पिता ।।**

४/५९ जाबाल दर्शन उप.

इस कारण जगत् की उपासना ही ईश्वर की उपासना है । यह उत्तम कोटि का पूजन है । मूर्त्ति पूजा तो मन्द बुद्धि के साधकों के लिये प्रथम बाल बोध मात्र है।

साधक का मुख्य साधन एकमात्र यही है कि वह अपने को चैतन्य 'है' से मन द्वारा जोड़ता रहे एवं जो स्वयं देह संघात् नहीं है उससे अपने को अलग जानता रहे कि जो जो यह रूप में, दृश्य रूप में है, यह मेरा वास्तविक रूप नहीं है ।

जैसे यह मेरा हाथ, यह मेरी आँख, यह मेरा मन, यह भेद ज्ञान बुद्धि के धर्म हैं मेरे धर्म नहीं है । इसी प्रकार बचपन, जवानी, बुढ़ापे की अवस्था से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है । अतः जिसका मैं के साथ सम्बन्ध बताया जाता हैं वह सब मैं नहीं हूँ और वे सब परधर्म मेरे नहीं है, यह निश्चय से जानना चाहिये । क्योंकि देह, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, जड़ वस्तु को अपना मानेंगे तो फिर जड़ता ही बुद्धि में बनी रहेगी । चिन्मयता छुपी, दबी रहेगी क्योंकि वह जड़ता के भाव की दृढता होने के कारण प्रकट नहीं हो सकेगी ।

**न दृष्टे र्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं शृणुयान्न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीथाः । एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तम् ।**

ब्रह्मदारण्यक उप. ३/४/२

मुमुक्षुओं ! तुम अन्तःकरण की वृत्तियों द्वारा जैसे अन्य विषय वस्तु को जानते हो उसी तरह तुम इस वृत्ति के द्रष्टा को, दृष्टि के द्रष्टा को घटादि के समान नहीं देख सकते । वैसे ही श्रुति के श्रोता के नहीं सुन सकते हो । मति के मन्ता अर्थात् मन के द्रष्टा को अन्य विषयों के मनन करने की तरह मनन नहीं कर सकते हो । बुद्धि वृत्ति रूप विज्ञाति के विज्ञाता को नहीं जान सकते । तुम्हारा यह आत्मा ही सर्वान्तर है इससे भिन्न सब कारण–कार्य रूप जगत् मिथ्या है अर्थात् नश्वर है ।

जिसकी प्राप्ति ज्ञान द्वारा होती है उसके लिये किसी स्थूल कर्म, व्यवहार, अभ्यास करने की आवश्यकता भी नहीं रहती है। अभ्यास

क्रिया, जप–भजन, ध्यान साधन तो हमारे मन में नित्य प्राप्त पदार्थ के प्रति अप्राप्ति एवं दूरी का भ्रम कराता है ।

मन, बुद्धि, इन्द्रिय (अन्तःकरण) द्वारा संसार की सिद्धि होती है किन्तु मन, बुद्धि द्वारा परमात्मा अर्थात् अपने आप को नहीं देख सकते । कारण मन, बुद्धि अपने कर्ता परमात्मा के प्रकाशक कभी नहीं हो सकेंगे ।

जिसका बिछुड़ने वाले शरीर, अवस्था, रूप, स्वास्थ्य, सम्बन्धों तथा मकान आदि सम्पत्तियों में मैं पना और मेरा पना नहीं है, ऐसे स्वतन्त्र जीव को कोई भी किसी प्रकार बन्धन में नहीं डाल सकता । उसे कोई भी देवता अपने आधीन गुलाम बनाकर नहीं रख सकता । वह तो परम स्वतन्त्र है उससे ऊपर किसी का शासन नहीं हो सकता जिसे किसी प्रकार की कामना, मांग नहीं है । वह तो ब्रह्म रूप ही है ।

**चाह गई चिन्तागई, मनुवा भये बे पीर ।**
**जाको कछुना चाहिये, वे हैं शाह फकीर ।।**

वह ब्रह्म नहीं जिसकी लोग यह रूप से उपासना करते हैं । **नेदं यदिदमुपासते** (केन उप.) यदि यह द्वैत का सिद्धान्त मान लिया जाय तो ब्रह्म की ही अखण्डता, व्यापकता, अपरिच्छिन्नता का खण्डन हो जावेगा । लेकिन ऐसा केन उपनिषद में क्यों कहा इसका कारण है कि यह रूप प्रतीत होने वाले दृश्य को ही ब्रह्म मान लिया जाय तो फिर साधन चतुष्टय, मुमुक्षता वेदान्त श्रवण, मनन, निदिध्यासन, तत्–त्वम् पदार्थ शोधन की उपयोगिता नहीं रहेगी । कर्म, उपासना, ज्ञान तथा वैराग्य व्यर्थ हो जावेगा फिर तो एक प्रकार से जगत् का ही पलट कर ब्रह्म नाम कर देना हो जावेगा । अतः एक अनन्त, अखण्ड, अविकारी, अविनाशी, नित्य ब्रह्म का अनुभव करने के लिये परिवर्तनशील, नाशवान् विकारी का त्याग करना ही पड़ेगा ।

जिस प्रकार नाटक में शूद्र, चाण्डाल, नौकर, पोलिस, मैंनेजर, डाकू का अभिनय करने के लिये किसी ब्राह्मण को बता दिया जाय तो वह अपने ब्राह्मण स्वाभिमान को मन से भुला नहीं देता । उसके मनसे उसके

ब्राह्मण भाव का निरन्तर ध्यान बना रहता है । उसी प्रकार संसार का सभी काम करते हुए भी मैं द्रष्टा, आत्मा हूँ यह भाव निरन्तर बना रहना चाहिये ।

**तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ।** – ८/२७ गीता

**तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध च ।** – ८/७ गीता

अहम् वृत्ति रूप अहंकार का मूल मैं आत्मा हूँ ऐसा बोध हो जाने पर अहंकार का नाश हो जाता है, यही आत्म विचार है ।

आत्मा से भिन्न कुछ न देखना ही आत्म दर्शन है । समस्त तपों में नित्य आत्मा का स्फूरण, चिन्तन, ध्यान ही महान् तप है । यही सहज समाधि है ।

आत्म निष्ठा को प्राप्त हो जाने के बाद उसके लिये बन्ध व मोक्ष की भ्रान्ति मिट जाती है । वह बन्ध–मोक्ष वृत्ति से भी ऊपर उठ जाता है ।

ईश्वर दर्शन आत्म रूप से ही होता है। परमात्मा दर्शन यदि अन्य रूप माना जायगा तो वह परिच्छिन्न, जड़, एकदेशीय, अनात्म प्रमेय वस्तु हो जावेगा । शुद्ध आत्म बोध से परमात्मा भिन्न नहीं है । जैसे पौधे से बगीचा भिन्न नहीं है।

जिस ज्ञानी का मनोनाश हो गया है और स्वरूप स्थिति रूप आत्म निष्ठा प्राप्त हो चुकी है, उसके लिये कोई कर्तव्यता नहीं रहती है **'तस्य कार्यं न विद्यते'** ३।१७ गीता । उसकी समाधि नित्य होती है । इसीको सहज समाधि कहते हैं ।

मन आत्मा की ही एक रश्मि है। यदि मन के मूल आत्मा को जान लिया तब मन सत्ताहीन हो जाता है। समस्त बन्धन व प्रपंच संसार इस मन को सत्तावान् जानने से ही था । मन क्या है ? जब मन का विचार किया जायगा तब मन ही नहीं रहेगा । जैसे लहरों का विचार किया जाय कि लहर क्या है ? तब लहर ही नहीं रहेगी केवल जल ही सत्ता रूप दिखाई पड़ता है । इसी प्रकार मन रश्मि आत्मा रूप हो जाने पर उससे प्रतीत होने वाला संसार प्रपंच का भी उपसंहार हो जाता है । सब ब्रह्म रूप होजाते है । स्वरूप स्थिति प्राप्त करने का यह विचारात्मक सरल मार्ग है ।

जो परमात्मा को अपना स्वरूप एवं अपने को परमात्मा स्वरूप जान लेते हैं, वे ज्ञान रूप नेत्रवाले योगी शरीर इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि से अपने को अलग करके अपने–आप में स्थित परमात्म तत्त्व का अनुभव करलेते हैं ।

**यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।**
**यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्य चेतसः ।।** १५/११: गीता

परन्तु जो अपने को शरीर व शरीर को अपना मान लेते हैं वे आहार शुद्धि व विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति तथा मुमुक्षुता के बिना विमूढ़ और अकृतात्मा पुरुष शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि के द्वारा यत्न करने पर भी अपने आप में स्थित परमात्मा को नहीं जान सकते ।

जिस चैतन्यात्मा द्वारा प्रकृति एवं प्रकृति के कार्य रूप मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, तथा श्रोत्र, त्वचा चक्षु, जिह्वा, घ्राण आदि जाने जाते हैं, जो प्रकृति से सर्वथा अतीत है उसे प्रकृति कैसे जान सकेगी ? जैसे सूर्य के दर्शनार्थ किसी अन्य प्रकाश की जरुरत नहीं रहती है । इसी तरह अपने आप में स्थित तत्त्व का अनुभव करने के लिये किसी दूसरे की सहायता लेने की जरूरत नहीं है अपने आप में स्थित 'है' तत्त्व का अनुभव अपने आप से ही हो सकता है ।

देश, काल, वस्तु की अपेक्षा से कहे जाने वाले मैं, तू, यह, वह इन चारों के मूल में 'है' के रूप में एक ही परमात्म तत्त्व समान रूप से विद्यमान है, जो इन चारों का प्रकाशक और आधार है । मैं, तू, यह और वह चारों परिवर्तनशील है और इन चारों का आधार 'है'अचल, अपरिवर्तनशील, अविकारी है । अपरिवर्तनशील 'है' है । इनमें तू है, वह है, यह है तो कहा जाता है किन्तु 'मैं है' ऐसा नहीं कहा जाता प्रत्युत् 'मैं हूँ', कहा जाता है । कारण 'मैं' में हूँ, मैं के कारण कहा जाता है । जब तक 'मैं' पन है तभी तक 'हूँ' के रूप में एक देशीयता या परिच्छिन्नता है । मैं पन के मिटने पर एक 'है' ही नित्य अपरिवर्तनशील है ।

जब तक साधक ’हूँ’ को देखता है तभी तक विकार, परिच्छिन्नता, एक देशीयता, पराधीनता, अभाव अज्ञान रहता है । जब हूँ के स्थान पर ‘है’ को देखलेता है तब कोई विकार नहीं रहता है ।

**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः** गीता २/१६

आत्मा ‘है’ सदा है और संसार ‘नहीं’ कभी नहीं है । ‘है’ सत्ता देखने में नहीं आता परन्तु जो सत्ता ‘नहीं’ है वह संसार सभी को देखने में आता है । जिसके द्वारा हम ’नहीं’ को देखते हैं, वे मन, बुद्धि, वाणी भी संसार के हैं, प्रकृति के हैं, ‘नहीं’ के अंश है । अतः ‘नहीं’ के द्वारा ‘है’ को नहीं जाना जा सकता ।

‘नहीं’ की स्वतन्त्र सत्ता न होने पर भी ‘है’ की सत्ता से ही ‘नहीं’ दिखती है । ‘है’ ही ’नहीं’ का प्रकाशक है और आधार है । जो ‘है’ से प्रकाशित होता है, वह ‘नहीं’ कैसे ‘है’ को प्रकाशित कर सकेगा ? जिस नेत्र से सब देखा जाता है, वह नेत्र न अपने नेत्रों द्वारा देखा जा सकेगा न दूसरे किसी इन्द्रिय द्वारा देखा या जाना जा सकेगा ।

जिनका मन के साथ तादात्म्य सम्बन्ध टूट जाता है फिर उनके लिये कोई संसार नहीं रहता है । साक्षी का मन के साथ तादात्म्य होना ही संसार है । जिसको साक्षी भाव साध्य हो गया उसके लिये कोई साध्य–साधन नहीं। साक्षी में जागरण हो गया तो मोक्ष हो गया । अब उसे स्वर्ग वैकुण्ठादि किसी लोकों में जाना शेष नहीं, अब उसे कुछ पाना शेष नहीं ।

वह ज्ञानी धन्य है जो अपने को मनका द्रष्टा जानता है । वह मन के पार हो चुका है, वह अन्तःकरण व उसकी वृत्तियों के पार उनका प्रकाशक हो गया है । ज्ञानी वृत्तियों में कभी नहीं उलझता, क्योंकि वह वृत्तियों को मिथ्या जानता है । वृत्तियाँ सूक्ष्म शरीर का अंग है और सूक्ष्म शरीर अविद्या का कार्य होने से मिथ्या है । जब कारण रूप सूक्ष्म शरीर ही मिथ्या है तो उसके कार्य रूप वृत्तियाँ तो स्वतः ही मिथ्या सिद्ध हो जाती है ।

**आत्मा और परमात्मा का वियोग रहा बहु काल ।**
**'सुन्दर' मिलाप कर दिया, सद्गुरु मिले दयाल ।२**

आवागमन से छूटने का एक ही उपाय है कि जो तुम्हारे भीतर एक चेतन तत्त्व है, जिसका न कभी जन्म होता है और न कभी मृत्यु होती है वही मैं हूँ ,ऐसा जानना होगा। जिसे पाने के लिये यह जीव जन्मों-जन्मों से खोज कर रहा है किन्तु मिल न सका, क्योंकि वह आत्म तत्त्व भीतर है एवं खोज बाहर हो रही है, मृग-कस्तूरी की खोज की तरह । वह अजन्मा अविनाशी तत्त्व तुम्हारे मैं के रूप में ही विद्यमान है । वही तुम हो । जरा भीतर मन के पीछे देखो तुममें व उस साक्षी ब्रह्म में न दूरी है न भेद है ।

एक कारण ब्रह्म ही समस्त नाम, रूप में प्रगट हुआ है । नाम, रूप का त्याग करने से शुद्ध ज्ञान उदय हो जाता है । फिर उस स्वरूप बोध के बाद कुछ करना नहीं पड़ता । जैसे अलंकार स्वर्ण रूप है, फर्नीचर लकड़ी रूप हैं, मशीनों लोह रूप है । जानलेने से उन व्यावहारिक उपयोगी अलंकार, फर्नीचर, मशीनों को तोड़ने, पीटने, जलाने की जरुरत नहीं रहती है । इसी तरह यह जगत् जगदीश रूप ही है ।

पंतजली वाली समाधि साधन साध्य है, वह सहज समाधि नहीं है । शरीर को उपवास कर शक्तिहीन बनादेना यह कोई समाधि हुई ? यह तो ऐसा हुआ कि पुरुष को नपुन्सक कर ब्रह्मचारी बनाने जैसा । शरीर में इन्द्रियाँ समर्थ रहते हुए, भोग ग्रहण करते हुए जो सम भाव बना रहे न वैराग्य न आसक्ति उस दशा का नाम सहज समाधि है ।

न जन्म तुम्हारा, न मृत्यु तुम्हारी फिर तुमसे कर्म कैसे हो सकता है ? आज तक तुमने कोई कर्म नहीं किया है । जब कभी हुए हैं तो शरीर के साथ तादात्म्य करके हुए हैं । द्रष्टा कर्म का कर्ता नहीं होता है । तुमतो सब कर्मों को जानने, देखने वाले द्रष्टा, साक्षी चैतन्य आत्मा है ।

**प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।**
**अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।।** ३/२७ : गीता

**यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।**
**हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ।।** १८/१७ गीता
**नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।**
**गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ।।**१४/१९ गीता

कर्मों का कर्ता स्वयं बनने से बन्धन है तथा कर्मों का द्रष्टा, साक्षी जानने से मुक्ति है । कर्म बन्धन रूप नहीं है। कर्ता भाव ही जीव को बन्धन में डालता है। यदि कर्म बन्धन रूप होता तो यह जीव कभी भी मुक्त नहीं हो पाता। क्योंकि जीव बिना कर्म किये एक क्षण भी नहीं रहता है ।

**न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्य कर्मकृत।** –३/५ गीता

तुम्हारे हाथ में न जीवन का प्रारम्भ है न समाप्ति । श्वाँस चलती है तो चलती है । रुक जाती है, तो रुक जावेगी, तब तुम कुछ नहीं कर सकोगे । न तुम्हारे कहने से चलती है न रुकती है । मौत द्वार पर आ जावेगी तो तुम एक श्वाँस भी नहीं ले सकोगे । श्वाँस लेना तुम्हारे हाथ में होता तो तुम कभी शरीर नहीं बदलते । मौत द्वार पर ही खड़ी रहजाती । श्वाँस तुम्हारे हाथ में होती तो तुम सो नहीं पाते, सो जाते तो श्वाँस रुक जाती व तुम मृत हो पड़े रहते ।

पंड़ित, पुरोहित, कथाकार, आश्रम चलाने वाले, शिष्य सम्प्रदाय में रुचि रखने वाले लोग, संसार मार्ग से उलट चलने वाले ज्ञानी से परेशान हो जाते हैं । क्योंकि ज्ञानी ताजा समाधि का, सहज सुख व सुगन्ध फैला रहा है । पंड़ित, पुरोहित, गुरुलोग सड़े–गले बासी फूल बेच रहे हैं । मुर्दा धर्म की लाशों के सहारे कथा कहानियों को सुनाकार अपना पेट भर रहे हैं । तब कौन जाएगा समझदार इन मन्दिर, मस्जिद, चर्च के काराग्रह में बन्ध होने, अधर्म की दुर्गन्ध ग्रहण करने । क्योंकि ये नामधारी गुरु तो उधार, बासी शास्त्र शब्द बेच रहे हैं और यह ज्ञानी तो मुफ्त ब्रह्मानन्द पिला रहा है । सहज समाधि, सहज ध्यान, जुटा रहा है । अतः जिनके पास शुद्ध आँखें हैं वे ही सच्चे संत की और आकर्षित होते हैं ।

ज्ञानी सहज होता है, नग्न होता है, जैसा होता है वैसा ही होता है । उसके जीवन में कोई बाहरी दिखावटी बनावट नहीं होती है । तुम्हारे कारण ज्ञानी अपने को किसी ढांचे में नहीं ढालता । वह शिष्यों सम्प्रदायों अन्ध परम्पराओं का गुलाम नहीं होता । ज्ञानियों पर भीड़ सदा नाराज रहती है, क्योंकि उनकी दुकानदारी चलाने में ज्ञानी की उपस्थिति बाधक मालुम पड़ती है । ज्ञानी अपने स्वभाव से व्यवहार करता है । तुम्हें रुचे तो ठीक न रुचे तो ठीक । मरे ज्ञानी से कोई खतरा नहीं । जीवित ज्ञानी से भीड़ सदा विरोध करती है, उन्हें जहर देती है, गर्दन काटती है और फिर मरने पर उनका मन्दिर, समाधि बना कर पूजा अर्चना भी प्रारम्भ कर देती है ।

जीवित ज्ञानी की कसौटी क्या है ? उसके पास जाने से तुम्हारे साधनों का खोखलापन, मिथ्यापन दिखाई देने लगेगा । तुम्हें पता चल जावेगा कि तुम्हारा संग्रह किया हुआ स्वर्ण है या पीतल । इसलिये ज्ञानी से अज्ञानी साधक तथा धन्धाकर गुरु नाराज होते रहते हैं, विरोध करते रहते हैं किन्तु ज्ञानी किसी मज़हब, सम्प्रदाय का अन्धानुकरण नहीं करता ।

अज्ञानी लोगों के गुरु, उनके मूर्ख शिष्यों के मन को प्रसन्न करने वाली बातों को ही कहा करते हैं । अज्ञानी के अनुकूल उनके मुर्ख गुरु आचरण, दिन चर्या, खान–पान, पहनाव आदि करते हैं इसलिये अज्ञानी द्वारा मूढ़ महात्मा पूजे जाते हैं । सच्चे सद्‌गुरु तुम्हारे मन को रुचने वाले आचरण में अपने को नहीं ढालता । सद्‌गुरु का व्यवहार स्वाभाविक है । वह लोकमतानुसार, लोगों को प्रसन्न करने वाला मार्ग नहीं अपनाते । सद्‌गुरु पर कोई मत, सिद्धान्त, कोई आचरण की कारागृह नहीं रहती है ।

जब तुम देखते हो तब जो तुम्हारे आँखों के पीछे देखने वाला द्रष्टा पुरुष है उसे नहीं देखते, बल्कि दिखने वाले दृश्य को ही देखते रहते हो । दृष्टि दृश्य को दिखाकर द्रष्टा पर लौट आना ही वास्तविक दर्शन है । तुम्हारे दृष्टि का तीर दृश्य में ही अटक जाता है । अस्तु हे जीव **!** '**देख, देख, देखने वाले को तो देख, कि वह देखने वाला कौन है ?**' '**जान, जान, जानने वाले को तो जान कि वह जानने वाला कौन है** ?' '**सुन,**

**सुन, सुनने वाले को तो सुन कि वह कौन तेरे भीतर सुनने वाला बैठा है ?**' । साधन में मत फंसो । परमात्मा तुम्हारे ही अन्दर विद्यमान है । अस्तु उसे अपने से बाहर मत खोजो । वह परमात्मा तुम्हारे भीतर नहीं, प्रत्युत् तुम ही हो, इस देह मन्दिर में तुम्ही आत्म देव विराजमान हो ।

**देहो देवालयः प्रोक्तः स जीवः केवलः शिवः ।**
**त्यजेदज्ञान निर्माल्यं सोऽहं भावेन पूजयेत् ।।** १० स्कन्द. उप.

तुम जिसकी प्रार्थना कर रहे हो ? जिसको तुम बुला रहे हो, पुकार रहे हो, जिसको पाने के लिये तुम ध्यान, पूजा, पाठ कर रहे हो, यात्रा पर निकले हो वह तुम्हारे ही अन्दर विराजमान है और तुम कहाँ बद्री, केदार वृन्दावन, अयोध्या, कैलाश, गोवर्धन आदि की परिक्रमा कर उसकी खोज में भटक रहे हो ? जरा शान्त हो कर बैठ जाओ एवं उसकी स्फूरण में जीओ । उस पर जीवन का भार छोड़ दो ।

ज्ञानी चिन्ता सहित, बुद्धि सहित, इन्द्रिय सहित क्रियारत दिखने पर भी वह चिन्ता रहित, बुद्धि रहित, इन्द्रिय रहित, क्रिया रहित ही रहता है । ज्ञानी के जीवन में अज्ञानी की तरह सुख–दुःख की घटना तो होती है किन्तु उन घटनाओं में ज्ञानी दुःखी–सुखी नहीं होता है । ज्ञानी भी भूख–प्यास रोगादि को अनुभव करता है एवं उसके निवृत्ति का साधन भी करता है किन्तु ज्ञानी समस्त व्यवहार होने पर भी अपने साक्षी भाव में ही स्थित रहता है ।

जिसके पास जाकर कूविचार आते हैं वह असाधु है । जहाँ पहुँचने पर अच्छे विचार आने लगे वह साधु है तथा जहाँ पहुँचने पर निर्विचारता आ जावे तो वह ब्रह्मज्ञ है ।

जाग्रत में वस्तुओं पर ध्यान रहता है किन्तु अपने पर नहीं रहता है, स्वप्न में जाग्रत के भोगों का देखे, किये, सुने, विचारों तथा संस्कारों का ध्यान रहता है । पर अपने पर ध्यान नहीं रहता तथा सुषुप्ति में किसी पर ध्यान नहीं रहता है परन्तु तुरीय में अपने पर ध्यान लौट आता है ।

जो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्था में होकर भी उनमें आसक्त नहीं होता है वह धीर पुरुष सब कर्म करते हुए भी जाग्रत है । वही तुरीय या तुरीयातीत आत्मा है ।

स्वतन्त्र व्यक्ति केवल मनुष्य होता है । परतन्त्र व्यक्ति हिन्दु, ब्राह्मण, ब्रह्मचारी, संन्यासी, भारतीय, ईसाई, सिक्ख, जैन, मारवाड़ी, गुजराती, उड़िया आदि होता है । स्वतन्त्र व्यक्ति सम्पूर्ण पृथ्वी के लोगों को अपना ही मानता है '**सर्वे भवन्तु सुखिनः**'यह उसकी हार्दिक प्रार्थना होती है । वह किसी जाति, सम्प्रदाय, मान्यता, अन्ध परम्परा का गुलाम नहीं होता है ।

सत्य को जानना सबसे बड़ा काम है । शास्त्रों, शब्दों मान्यताओं रूढ़ीवादता को छोड़ देना है । जो इन परम्पराओं, रूढ़ीवाद एवं मान्यताओं को जोर से पकड़े रहेगा, वह सत्य को उपलब्ध नहीं हो सकेगा ।

अक्षर का अर्थ होता है जिसका कभी क्षरण न हो, जो सदा रहता है । जिसने अपने अक्षर आत्मा को जानलिया । अब उसके जानने के लिये कुछ बाकी नहीं रहा । वह अक्षर तुम्हारे भीतर ही विद्यमान है ।

**तदेजति तन्नेजति तद्दूरे दद्वन्तिके ।**
**तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ।।** ५ ईशा. उप.

बाहर खोजने वालों के लिये वह दूर से दूर होता चला जाता है अन्यथा भीतर खोजने वाले के लिये वह पास से पास स्वयं ही हो जाता है । जितने तुम अपने में रस मग्न हो जाओगे उतने ही तुम परमात्माके निकट हो जाते हो ।

ध्यान का अर्थ निर्विकार,एक शून्य चैतन्य की अवस्था है, जब चैतन्य तो पूरा होता है, लेकिन चैतन्य के समक्ष कोई विषय वस्तु नहीं होती है । 'मैं कौन हूँ' का विचार मन को अन्तर्मुखी एवं आत्माभिमुख करने का उपाय है और अन्य सभी बाह्य विचारों का नाश करना है ।

इस देह में मैं रूप से जो उदित होता है वह मन है ।

मन का उद्गम स्थान हृदय है तथा मैं विचार का भी उद्गम स्थान हृदय है ।

मैं उत्तम पुरुष के विचार उदय हुए बिना मध्यम पुरुष या अन्य पुरुष का विचार कभी उदय नहीं होता है । मैं यह हूँ इस प्रथम विचार के बाद ही तू या वह का विचार जाग्रत होता है ।

जब कोई विचार उठे तब तुम प्रश्न करो कि यह विचार किसे उठा ? विचार करने से उत्तर मिलेगा कि विचार मुझे उठा । फिर पूछो यह मैं कौन है ? इस प्रकार के विचार करने से विषय चिन्तन से हठ मन आत्म में, अपने उद्‌गम स्थान में लौट आएगा । इस प्रकार बारम्बार के अभ्यास से मन आत्मा में अपना स्थान बना लेगा, तब मन से नाम, रूप संसार तिरोहित हो जावेगा, और मैं सकल विचारों का जो मूल है वह शेष रह जाता है । केवल शुद्ध आत्मा ही शेष रह जाता है । जैसे लकड़ी से प्रकट अग्नि सबको भस्म कर स्वयं भी शान्त हो जाती है । इसी प्रकार मैं कौन हूँ की विचार अग्नि अन्य समस्त विचारों को शान्त करदेती है । जीवन निर्वाह अर्थात् प्राण रक्षा के लिये आहार ग्रहण करने वाले में सत्त्व गुण की वृद्धि होती है, उससे आत्म विचार में सहायता मिलती है ।

दूसरे लोग चाहे जितने भी बुरे मालुम हो फिर भी उनसे घृणा, द्वेष नहीं करना चाहिये, क्योंकि परमात्मा उनमें भी तो तुम्हारे ही तरह विद्यमान हैं।

नेति–नेति 'नहीं', 'नहीं' निराकरण करने से जो अकेला ज्ञान बचा रहता है वही मैं हूँ उसी ज्ञान का स्वरूप मैं सच्चिदानन्द हूँ।

'मैं कौन हूँ' इस प्रकार कल्याण की इच्छा रखने वाले साधक को अपना अन्वेशण करना चाहिये । आत्म अन्वेशण न कर केवल शास्त्र पाठ, तीर्थाटन, जप, तप करने से यह भीतर रहने वाली आत्मा नहीं जानी जा सकेगी । शास्त्र बाहर है जप, तप, तीर्थ, बाहर है, जबकि आत्मा भीतर है । अपने को अपने ज्ञान चक्षु से ही जानना होगा । अतः अपने को स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर, पंच कोष, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तीन अवस्था से पृथक् जान लेना चाहिये ।

सदा सर्वदा मन को आत्म विचार में, अर्थात् मैं के भान में सुस्थित रखना ही आत्म विचार एवं आत्म ध्यान कहलाता है । आत्म ध्यान आत्म विचार में निश्चय रहने का नाम ही ज्ञानदृष्टि है । अहं ब्रह्मास्मि के ध्यान में ही यज्ञ तप, योग, जप, व्रत, पूजा आदि समस्त साधनों का समावेश है । इसी को निर्गुण उपासना कहते हैं । अतः मुमुक्षु को कर्म काण्ड में मन न लगाकर केवल सोऽहम् भावना में ही मन को स्थिर करना चाहिये ।

**दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येत्ब्रह्ममयं जगत् ।**
**सा दृष्टिः परमोदारा न नासाग्रावलोकिनी ।।**

१/२९ तेजो बिन्दु उप./ ११६ अपरोक्ष अनुभूति

दृष्टि को ज्ञानमयी कराके संसार को ब्रह्मरूप देखना ही वास्तविक दृष्टि है । यही दृष्टि उत्तम कल्याणकारी है । नाम, रूप पर दृष्टि रखने वाले तो अन्धे ही पैदा होकर अन्धे ही जीवित रहते हुए अन्धे ही मरजाते हैं । कोई भाग्यवान् ही सद्गुरु द्वारा दिव्यदृष्टि प्राप्तकर परमात्म रूप अपने सहित सर्व जगत् को देखता है ।

जैसे स्वप्नावस्था के सभी प्रकार के भय, रोग, चिन्ता, अहंकारादि से छूटने का सरलतम साधन उठकर बैठ जाना ही एकमात्र उपाय है अन्य कोई उपचार स्वप्न के दुःखों से बचने का नहीं है ।

इसी प्रकार सभी विघ्नों को दूर करने का एक मात्र उपाय है आत्मविचार अर्थात् मैं कौन हूँ । इसलिये आत्म स्वरूप के चिन्तन को, सोऽहम् भाव को कभी भी नहीं त्यागना चाहिये । सभी क्रियाओं के साक्षी बने रहने में ही योग,ध्यान,ज्ञान, भक्ति, तन्त्र, मन्त्र,जपादि समाये हुए हैं ।

मन ही कुण्डलिनी है । स्थूल बुद्धि वाले लोगों के लिये उसका सर्पाकार गोलाकार की कल्पना की जाती है । षड् चक्र दर्शन भी मन की कल्पना है । यह नादान नौ सिखिये बच्चों के लिये प्रारम्भिक साधन है । आत्मा ही ब्रह्म है, इस विचार को दृढ़ करना कल्याण का अन्तिम साधन है । यह विचार ही समस्त विघ्नों, अनर्थों को नष्ट करने और आनन्द प्राप्ति का साधन है ।

मैं देह, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि नहीं हूँ, मैं आत्मा ही हूँ इस प्रकार से आग्रह पूर्वक चिन्तन करना चाहिये । मैं इस एक देह में ही नहीं प्रत्युत् सर्व देहों में स्थित अखण्ड आत्म देव ही हूँ । यही जीवन्मुक्त दशा है ।

जैसे कोई ब्राह्मण सिनेमा में चोर, पोलिस, राजा, डाकू आदि का अभिनय करते हुए भी अपने ब्राह्मण पने को नहीं भूलता है । इसी प्रकार व्यवहार काल में सेठ, नौकर, पति, पत्नी, पिता-माता, पुत्र-पुत्री आदि का अभिनय करते रहते हुए भी मैं देह से पृथक् द्रष्टा, साक्षी, आत्मा ही हूँ यह मन में ही अभ्यास बनाये रखना चाहिये ।

देह की पीड़ा का यही उपचार है कि पीड़ा किसे हुई ? उत्तर- मन को । तब तुम पीड़ा व मन को जानने वाले हुए । तुम न देह हो न पीड़ा और न मन । फिर मन के सुख-दुःख धर्म को अपना न मानना ही ज्ञान है ।

**नाहं देहो जन्ममृत्यु कुतो मे**
**नाहं प्राणः क्षुत्पिपासे कुतो मे ।**
**नाहं चेतः शोक मोहौ कुतो मे**
**नाहं कर्ता बन्ध मोक्षौ कुतो मे ।।**

६ सर्वसारोपनिषत्

सच्चे सद्गुरु, पूरे गुरु, ज्ञानी गुरु तो अपने को ही सर्वत्र, सर्व रूपों में याने ब्रह्मात्मा को ही सर्व रूपों में अनुभव करते हैं। इसलिये वे कभी ऐसा नहीं कह सकते कि यह मेरा शिष्य है अथवा इतने मेरे शिष्य है । जो पूर्ण गुरु नहीं है, जो व्यापक आत्म भाव में नहीं डूबा है, वही अपने से भिन्न देव, पशु, पक्षी एवं मनुष्यों शिष्यों को देखता है और यही उसके जन्म-मरण का चक्र है ।

हे मैत्रेयी ! जिस अविद्या अज्ञानावस्था में द्वैत सा प्रतीत होता है वहाँ पर ही अन्य-अन्य को देखता है । अन्य-अन्य को सुनता है । अन्य-अन्य को स्पर्श करता है । अन्य अन्य को सूंघता है । अन्य अन्य को कहता है, अन्य-अन्य से राग-द्वेष, शत्रुता करता है और बन्धन को प्राप्त होता है ।

यह स्वतः सिद्ध है कि जिस व्यक्ति ने निरपेक्ष सत्ता के साथ अपनी एकता का अनुभव करलिया है और जो इस सर्वोच्च अर्थ में गुरु है, वह ऐसा कभी नहीं कह सकता की मैं गुरु हूँ, यह मेरा शिष्य है क्योंकि एकत्व बोध हो जाने पर भेद को देखने वाला अहंभाव ही नहीं रहता है ।

सच्चे सद्गुरु शिष्य के प्रति कभी निम्न या गौण भाव नहीं रखते हैं । क्योंकि वे जानते हैं गुरु–शिष्य के शरीर दो दिखाई पड़ते हैं किन्तु सत्तादृष्टि से तो एक आत्मा ही है । यदि गुरु शिष्य के प्रति भेदभाव रखे तो वह गुरु ही नहीं है । गुरु जानता है कि यह अभी अपने स्वरूप को नहीं जानता है और मैं जानकर बैठा हूँ । यह भी निकट भविष्य में इसी आत्मपद में स्थित हो ही जाने वाला है ।

जहाँ पर इस विद्वान् की दृष्टि में अखण्ड आत्मा ही होगा, वहाँ अब इसे भय कैसा ? किससे–किसको देखे, किससे किसको सुने, किससे किसको जाने,किससे राग–द्वैष, शत्रुता करें ?

ज्ञानी मन निग्रह के लिये प्रयत्न नहीं करता, क्योंकि वह अपनी अखण्डता, व्यापकता, सर्व रूपता को जानता है, इसलिये मन, जीव, जगत् यह सब एक आत्मा के ही विभिन्न रूप है । आत्मा से पृथक् इनकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है । आत्मा मन की चंचलता एवं स्थिरता से कोई सम्बन्ध नहीं रखता है ।

तुम सब में तो भगवान् की सत्ता को मानते हो एवं कहते भी हो कि 'कण–कण भगवान् है' उसकी सत्ता के बिना पत्ता भी नहीं हिलता । तब तुम अपने में ही उस अखण्ड, व्यापक, सत्ता को क्यों नहीं देखते हो, क्यों नहीं मानते हो ? अपने में आत्मा को पहचानना ही आत्मज्ञान है । जो सब में है, जो सर्व है फिर वह तुम में क्यों नहीं हो सकेगा ? अवश्य ही रहता है ।

# संन्यास

संन्यास अथवा निश्चलता का अर्थ है अपने मिथ्या देहात्म बुद्धि का व अहंभाव का नाश करना, आत्मा को अनात्मा से न मिलाना। मुण्डन करना, गृहत्याग कर, वस्त्र त्याग करदेना या गैरिक वस्त्र धारण करना संन्यास नहीं । यह तो बहुरूपियोंका स्वाँग मात्र है ।

**मूंड मुड़ाये हरि मिले तो सब कोई लेय मुडाय।**
**बारबार के मूढते भेड़ न वैकुण्ठ जाय ।।**

**दाढ़ी रखने का महत्व होता तो बकरा भी श्रेष्ठ पुरोहित होता**

अपने को परमात्मा में पूर्ण समर्पित करदेना ही भक्ति है । ऊपर से वस्त्र रंगना राम–राम की चादर लपेटना बहुरूपिये का स्वांग बनाना, नामोच्चार करना या माला करना सच्ची भक्ति नहीं है ।

संन्यास लेने पर जब घर, सम्पत्ति, परिवार, का त्याग कर दिया जाता है, नाम बदल दिया जाता है फिर शिखा, सुत्र, यज्ञोपवित का त्याग क्यों नहीं किया जाता ? लोक वासना ही इसका प्रमाण है कि लोग मुझे ब्राह्मण जाने । चार जाति, चार आश्रम, तीन अवस्था, पंचकोश, तीन शरीर, तीन गुण में अभिमान करने वाला न ज्ञानी है, न संन्यासी है, न अनन्य भक्त है । उसे केवल सकामी कर्म काण्डी ही कहा जा सकता है ।

जो साधक देह भाव, जाति भाव, आश्रम भाव का अभिमानी है, वह आत्म हत्या ही कर रहा है ।

परमात्मा के पास हिन्दु, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, जैन, बौद्ध, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र, गृहस्थी, वानप्रस्थी, संन्यासी, उड़िया, बंगाली,

गुजुराती, मारवाड़ी, पंजाबी, सिन्धी कोई नहीं पहुँच सकता । यह सभी देहाभिमानी मिट्टी में ही मिलेंगे, परमात्मा न हिन्दु है, न मुसलमान, न ब्राह्मण, न क्षत्रिय, न ब्रह्मचारी, न सन्यासी । वह तो सत्तामात्र अगोचर है । उससे मिलना तो जीव होकर ही हो सकेगा । अंश ही अंशी में मिलसकता है । जीव ईश्वर का अंश है । शरीर भूतों का अंश है ।

जब तक कर्ता भाव के साथ सम्बन्ध है तब तक प्रकृति के साथ सम्बन्ध है । जबतक प्रकृति के साथ सम्बन्ध है तब तक दुःख, अशान्ति, जन्म–मरण बन्धन रहेगा ।

प्रकृति के साथ सम्बन्ध हटाना है तो न करने का मार्ग अपनाना होगा । क्योंकि क्रिया व पदार्थ दोनों प्रकृति के कार्य हैं । चेतन आत्मा में न क्रिया है न पदार्थ हैं । पदार्थ एवं क्रिया अनित्य है । अनित्य कर्म द्वारा नित्य आत्मा की प्राप्ति नहीं हो सकेगी ।

**परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।**
**तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।।**

मुण्डक १/२/१२

उपरोक्त मन्त्र में कहा है कि कर्म, उपासना द्वारा प्राप्त हुए सम्पूर्ण लोक और भोगों को अनित्य जान मोक्षाभिलाषी को कर्म, उपासना से उपराम हो जाना ही श्रेयस्कर होगा । क्योंकि अनित्य कर्म, उपासना द्वारा नित्य प्राप्त आत्म पदार्थ की प्राप्ति नहीं हो सकती ।

जहाँ बिना धन, पद, पुत्र के शान्ति है वह योग्य है । कारण कि वहाँ अशान्ति का कोई कर्ता या भोक्ता नहीं है । जहाँ कर्ता है वहाँ भोग है, संसार है, अशान्ति एवं दुःख है ।

परमात्म योग में जुड़ने के अभिलाषी साधक को निष्काम कर्म, उपासना साधन करना कर्तव्य है । ब्रह्म जिज्ञासा होने पर वेदान्त श्रवण, मनन, निदिध्यासन, तत्–त्वम् पदार्थ शोधन करना कर्तव्य है । किन्तु परमात्म भाव में स्थित ज्ञानी के लिये कुछ भी साधन कर्तव्य रूप नहीं है । **'तस्य कार्यं न विद्यते'** ३/१७ गीता ।

# आत्मानुभूति

यह कोई नूतन प्राप्त करने की वस्तु नहीं है, जिसे आप खोजकर, मांग कर, खरीद कर, पैदाकर अथवा किसी साधन द्वारा प्राप्त कर सके व जिसे आप छूकर, सूंघकर, स्वाद लेकर, देखकर ग्रहण कर सके । यह आत्मा तो आपका स्वतः सिद्ध स्वरूप है, जो प्राप्ति के समस्त साधनों के पूर्व से ही प्राप्त है । जन्म से साथ ही है, मृग नाभि में स्थित कस्तूरी की तरह । मैंने अभी आत्मानुभूति नहीं की है, इस कुचिन्तन करने वाले मन को ही सुचिन्तन द्वारा ठीक रास्ते पर लाना है कि मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तात्मा ही हूँ ।

**नाहं ब्रह्मेति जानाति तस्य मुक्तिर्न जायते ।।** ४/२३ पैङ्गल उप.

जो जीव ऐसा मानता है कि मैं ब्रह्म को आत्मा रूप से नहीं जानता वह अज्ञानी कभी मुक्त नहीं हो सकेगा । क्योंकि यथा मति तथा गति यह सिद्धान्त है ।

निश्चलता, शान्ति, निर्वासना रहित स्थिति हो तो आत्म अनुभूति, आत्म शान्ति है । एक पल भी ऐसा नहीं होता है, जब अखण्ड आत्मा किसी के पास न हो, फिर जीवित प्राणी के पास आत्मा न होना कहना या मानना तो महापाप ही है । अखण्ड आत्मा मृत शरीर से भी एक क्षण दूर नहीं रहता है । क्योंकि आत्मा को शस्त्र, अग्नि, पवन तथा जल किसी एक से कोई खतरा नहीं है ।

मुझे अभी तक इतना सत्संग करने पर भी आत्मानुभूति क्यों नहीं हो पारही है ? इस प्रकार का विचार भी तो आत्मा के सहयोग के बिना नहीं कहा जासकेगा । अतः ऐसा कहना भी आत्मा होने का प्रमाण है ।

आत्मा को अनात्म देह मानते आरहे, इसी कारण से ही यह प्राप्त आत्मा में अप्राप्ति का भ्रम विचार उदय हुआ है । अर्थात् अपने को शरीर मानने के कारण ही यह आत्म दर्शन, आत्म साक्षात्कार, आत्मानुभूति करने की उत्कण्ठा जाग्रत हुई है । समस्त वासना के रहते हुए भी तुम वर्तमान में आत्मा ही हो । ऐसा कभी मत सोचो कि मेरी वासना समाप्त होगी तब आत्मानुभूति हो सकेगी ।

जीव के मृत्यु भय का कारण एक मात्र यही है कि वह शरीर के साथ में मैं भाव से जुड़ जाता है । शरीर तो मरता है, किन्तु चिन्मय आत्म सत्ता अविनाशी है । चिन्मय सत्ता 'है' के साथ 'मैं' मिलाने से मरने का भय व जीने की इच्छा होती है । अतः जीने की इच्छा न 'मैं' में है और न 'है' में है । प्रत्युत् मैं हूँ इस तादात्म्य में है । इसे ही चित+जड़ ग्रन्थि कहते हैं ।

## चित+जड़ ग्रन्थि

प्रत्येक जीव यह अनुभव करता है कि 'मैं हूँ' । यह 'मैं हूँ' ही जड़–चेतन की गाँठ है । यद्यपि इसमें 'मैं' की मुख्यता प्रतीत होती है । और 'हूँ' इसका सहायक प्रतीत होता है । तथापि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो मुख्यता 'हूँ' सत्ता की ही है, मैं की नहीं है, क्योंकि मैं तो हर क्षण, हर क्रिया में, हर अवस्था में बदलता ही रहता है । परन्तु 'हूँ' हर क्रिया में, हर अवस्था में एक जैसा ही बना रहता है जैसे अभी मैं किशोर हूँ, मैं रोगी हूँ, मैं निर्धन हूँ, मैं दुःखी हूँ फिर मैं जवान हूँ, मैं निरोगी हूँ, मैं धनी हूँ, मैं आनन्द हूँ । इन सभी कथन में '**मैं**' तो बदला किन्तु 'हूँ' नहीं बदला '**हूँ**' निर्विकार रूप से रहता है ।

'मैं' प्रकृति का अंश है और 'है' चेतन का अंश है । परमात्मा का अंश है । यह 'है' सत्ता का वाचक है । मैं साथ में होने से ही यह 'है' 'हूँ' हो गया । यदि **है, मैं** के साथ न रहे तो **हूँ** भी नहीं रहेगा प्रत्युत् **है** ही रहेगा । यह '**है**' सर्वदेशीय है । **मैं** के कारण ही एकदेशीय **हूँ** का भान होता है ।

'**मैं**' जड़ है और '**हूँ**', चिन्मय सत्ता है। **मैं** और **है** इन दोनों का एक हो जाना, घुल–मिल जाना ही तादात्म्य–चित्–जड़ ग्रन्थि का लग जाना है ।

इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि हम नित्य निरन्तर रहने वाले आनन्द को ही चाहते हैं और नाशवान् भोग पदार्थों को भी चाहते हैं । यह दो प्रकार की रुचि आनन्द और एक क्षणिक सुख, अविनाशी एवं विनाशी के तादात्म्यता के कारण ही अर्थात् मैं + है ग्रन्थि के कारण ही है ।

एक 'है' (सत्तामात्र) के सिवाय और कुछ नहीं है ऐसा जानने से मुक्ति है और वह 'है' अपना है, ऐसा मानने से भक्ति हो जाती है । वास्तव में जो 'है' है वही परमात्मा अपना स्वरूप हो सकता है । जो 'नहीं' रूप नाशवान् देह पदार्थ है वह अपना स्वरूप कभी नहीं हो सकता ।

'है' सब पदार्थों में रहता है, जैसे मकान है, चांद है, सूरज है, वृक्ष है, मनुष्य है । परन्तु **है** के साथ **मैं** जुड़ जाने से बन्धन है जैसे मैं मनुष्य हूँ, मैं जवान हूँ । तत्त्वज्ञ महापुरुषों की स्थिति 'है' में रहती है । यद्यपि सब की स्थिति 'है' में ही है, पर जड़ता शरीर के साथ सम्बन्ध मानने से 'मैं हूँ' हो गया । जड़ता देह संघात् से सम्बन्ध न रहे तो 'मैं हूँ' न रहेगा प्रत्युत् 'है' रहेगा, परमात्मा ही रहेगा । इस स्थिति का नाम जीवन्मुक्ति है । उस परमात्मा सत्ता को मिथ्या 'मैं' के साथ मिलाने से वह जीव हो जाता है । मैं से अर्थात् जड़ प्रकृति देह से चैतन्य आत्मा को अलग जानने से मुक्त हो जाता है ।

हमारे होने में, सत्ता में मैं पन नहीं है । मैं पन का सम्बन्ध भूल से माना है । 'मैं हूँ' इसमें 'मैं' नहीं है, पर 'हूँ' है । हमारा अस्तित्व 'मैं' के बिना है । 'है' रूप से एक परमात्मा ही सब जगह परिपूर्ण है । उस 'है' का अंश ही 'हूँ' है । अगर 'मैं' न रहे तो 'हूँ' नहीं रहेगा, प्रत्युत् 'है' ही रहेगा 'हूँ' भी वास्तविक है ही है ।

आत्मा पाने की बात ही गलत है । नित्य आत्मा के प्रति अप्राप्ति का विचार करना भी पाप है । आत्मा नित्य एवं सर्व व्यापक है । याद रखें ! जिसे आज या भविष्य में तुम प्राप्त करने की आशा में साधन कर रहे हो वह मिलजाने पर फिर एक दिन नष्ट भी अवश्य हो जावेगा । प्राप्त पदार्थ या स्थिति कभी भी खो सकता है, छिन सकती है । फिर जो पदार्थ, सिद्धि

एवं लोक अनित्य ही है उसे पाने का लाभ भी क्या ? अनित्य को पाने हेतु इतना कष्ट भी क्यों उठाया जाय ?

इसलिये वेद कहता है और मैं भी तुमसे यही कहता हूँ कि तुम अभी ही हर अवस्था में ब्रह्मात्मा हो । आत्मा सांसारिक वस्तु की तरह अप्राप्त पदार्थ नहीं है, जिसे तुम साधन का मूल्य चुका कर इन्द्रिय द्वारा प्राप्त कर मन से अनुभव कर सको । तुम ही तो आत्मा हो । अब तुम तुमको कैसे प्राप्त कर सकोगे ? तुम यदि और होते, भिन्न होते तो प्राप्त भी करलेते लेकिन तुमतो तुम ही स्वयं हो । शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि को तुम मैं मानते हो यही तुम्हारी महान् भूल है । इसलिये अनात्म देह संघात् से मैं बुद्धि को हटाना चाहिये और जो तुम हो उसी आत्मा में आत्मभाव करना चाहिये । मैंने आत्मा प्राप्त नहीं किया है, मुझे आत्मा प्राप्त करना है इन अनात्म विचारों को मन में रखना ही प्राप्त आत्मा में बन्धन का कारण है।

मैं नाम, जाति, आश्रम, परिवार, परिणाम तथा उपाधि वाला हूँ यह अनात्म धारणा ही अपने शुद्ध आत्म स्वरूप पर पर्दा किये हुए है ।

कर्ता व कर्म से परे अपना स्वरूप है । अब विचारो कि कर्ता कौन है एवं कर्ता, कर्म व क्रिया का साक्षी कौन है ? यह विचार ही तुम्हें कर्ता से परे कर्ता के प्रकाशक चैतन्य आत्मा पर स्थित करदेता है ।

जिसने जगत् की उत्पत्ति की है और तुम्हारी रक्षा कर रहा है, वह ही जगत् के अन्य जीवों की भी रक्षा कर रहा है, अतः जगत् क्लयाण की चिन्ता से पूर्व तुम्हारा काम अपने कल्याण को प्राप्त करना है ।

आत्मा शाश्वत नित्य, सर्वव्यापक है, उसे टिकाये रखने के लिये अभ्यास, अनुष्ठान, साधन करने की जरूरत नहीं है । आत्मा न कभी खोया है न कभी पाया जा सकेगा। आत्मा निर्गुण निराकार शक्तिस्वरूप होने से उसका कोई रूप आकार नहीं है । वह व्यक्ति नहीं शक्ति रूप है इसलिये न वह स्त्री है, न पुरुष, न नपुंसक है ।

**नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः ।**
**यद् यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते ।।** ५/१० श्वेताश्व. उप

**देहात्मज्ञान वज्ज्ञानं देहात्म ज्ञान बाधकम् ।**
**आत्मन्येव भवेद्यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते ।।** बराह उप. २/१५

यदि मैं मनुष्य हूँ यह देह भाव की तरह एक बार आत्मभाव मन में जाग्रत हो जावे कि मैं आत्मा हूँ यह होंश जाग्रत हो जावे, तो फिर कभी वह आत्मा से दूर हो ही नहीं सकती, क्योंकि स्वयं ही तो आत्मा है वह बिना इच्छा के मुक्त है। आत्मा सदा एकरस होने से उसमें किसी प्रकार के परिवर्तन की गुन्जाइश नहीं है । यह आत्मा अच्छे विचार से बढ़ता नहीं एवं बुरे विचार से छोटा होता नहीं, अथवा अच्छे विचार से शुद्ध होता नहीं एवं बुरे विचार से यह अशुद्ध होता नहीं ।

आत्मज्ञानी की दृष्टि में देह भाव गौण हो जाता है और वह देह भाव से ऊपर हो जाता है और अपने सहित सबको एक आत्म रूप ही देखता है ।

जब मैं का प्रतिपादन केवल मैं अर्थात् आत्मा के लिये ही किया जाता है तब वह आत्मा है । जब मैं का उपयोग आत्मा के लिये न कर देह प्राण, मन, बुद्धि के लिये किया जाता है कि मैं यह हूँ, मैं वह हूँ, मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मैं पिता हूँ, मैं पत्नी हूँ इत्यादि प्रकृति रूप में किया जाता है तब वह अहंकार बन्धन रूप है ।

आत्मा की प्राप्ति के लिये मैं आत्मा हूँ इस भाव में निश्चल बनना ही सबसे बड़ी साधना है । जगत् में छोटा पदार्थ हो अथवा बड़े पदार्थ की प्राप्ति हेतु कर्म करना पड़ता है तब वह प्रारब्ध योग से प्राप्त होता है किन्तु परमात्मा ही एक ऐसी नित्य, अखण्ड, वस्तु है जो भावना मात्र से प्राप्त होती है । मति के अनुसार गति जब सिद्धान्त है तब इससे सरल और क्या बात हो सकती है । जगत् में यह बात बहुत प्राचिन काल से प्रसिद्ध होती चली आरही है कि 'जैसी मति वैसी गति' आत्मा तुम्हारा नित्य स्वभाव है वह दूसरी जगह से प्राप्त करने की वस्तु नहीं है ।

# समाधि

**नाहं देहो न च प्राणो नेन्द्रियाणि मनो नहि ।**
**सदा साक्षि स्वरूपत्वाच्छिव एवास्मि केवलः ।।**

जाबाल दर्शन उप. १०।४

मैं न देह हूँ, न मैं प्राण हूँ, न मैं इन्द्रियाँ हूँ, न मैं मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार रूप अन्तःकरण हूँ । मैं तो इन सब अनात्म दृश्य देह संघात् से पृथक् सदा ही इन सबका द्रष्टा, साक्षी असंग निष्क्रिय, निराकार एक रस, स्वयंप्रकाश, सर्वप्रकाशक सर्वाधिष्ठान केवल आत्मा हूँ । ऐसी निश्चयात्मिका बुद्धि को ही समाधि कहते हैं ।

**समाधिः संविदुत्पत्तिः पर जीवैकतां प्रति ।**

जाबाल दर्शन उप. १०।१

अज्ञान कल्पित देहभाव की तरह परमात्मा और जीवात्मा के एकत्व भाव अर्थात् 'सोऽहम्', 'अहं ब्रह्मास्मि' सम्बन्ध में निश्चयात्मिक बुद्धि का जाग्रत हो जाना ही समाधि है ।

**ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः ।**
**न चास्ति किञ्चित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित् ।।**

१।२३ जाबाल दर्शन उप, ४/९ पैङ्गल उप.

जो ज्ञानरूपी अमृत से तृप्त हो जाता है । अब उसके कल्याण सम्बन्ध में कुछ भी अन्य कर्म, उपासना, योग, कुण्डलिनी जागरण, ध्यानादि साधन करने की कर्तव्यता शेष नहीं रहती है । यदि कोई अपने कल्याण सम्बन्ध में कुछ साधन करना कर्तव्यता मानता है तो वह मन्द बुद्धि, मूढ़ पुरुष है । उसे तत्त्वज्ञानी नहीं समझना चाहिये । मानव जीवन में आत्म

निष्ठा प्राप्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है । उस आत्मा का साक्षात्कार जिसने मैं रूप से करलिया उसके लिये तीनों लोक में कुछ भी साधन करना कर्तव्य नहीं है ।

**अमृतेनतृप्तस्य पयसा किं प्रयोजनम् ।**
**एवं स्वात्मानं ज्ञात्वा वेदैः प्रयोजनं कि भवति ?॥** पैङ्गल उप. ४।८

ज्ञान अमृत पान कर जो अमर हो गया है अब उसे दूध पान करने से कोई प्रयोजन नहीं । उसी तरह जब अपने स्वरूप का बोध हो जाने पर वे वेद में कहे कर्म, उपासना से उस आत्मनिष्ठ ज्ञानी का कोई प्रयोजन नहीं ।

**ज्ञानेनैव हि संसार विनाशो नैव कर्मणा ।**
**श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं स्वगुरुं गच्छेद्यथाविधिः ॥** ३५, रुद्र हृदय उप.

यह दिखाई पड़ने वाला संसार अधिष्ठान रस्सी में सर्प के समान अध्यस्त असत्य है । परन्तु अधिष्ठान ब्रह्म ही सत्य है । इस प्रकार जानने वाला पुरुष मोक्ष को प्राप्त होता है लेकिन किसी भी कर्म से जीव का संसार बन्धन नहीं कटता है । यह अज्ञान कृत बन्धन तो ज्ञान से ही नष्ट हो सकता है । इसलिये मोक्षाभिलाषी पुरुष को किसी श्रोत्रिय–ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की शरण लेनी चाहिये । तब वह सद्गुरु जीव ब्रह्म के एकत्व का ज्ञान कराने वाली पराविद्या का अध्ययन करावेंगे ।

**परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।**
**तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥**
मुण्डक १/२/१२

सकाम कर्म, उपासना द्वारा प्राप्त फल एवं लोक नाशवान् होने के कारण उनका त्याग कर निष्काम कर्म ,उपासना द्वारा चित्तशुद्ध होने से ब्रह्म जिज्ञासा उदय होने पर किसी श्रोत्रिय–ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास अपने यथार्थ आत्म स्वरूप का ज्ञान करने के लिये आश्रम एवं गुरु उपयोगी वस्तु लेकर जावे । क्योंकि अनित्य कर्म साधन से नित्य आत्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती ।

# सद्गुरु

हमें गुरु के पास प्रेम की झलक मिल सकती है । गुरु के पास प्रेम का पहला पाठ सीखना है । बेशर्त हो जाना है । पूरा झुक जाना है । अपने को पौंछ डालना अर्थात् मिटा देना है । कोई मांग नहीं, शिकायत नहीं करना है, उनके उपदेश व उपचार पर 'क्यों ?' का प्रश्न नहीं करना। जैसे रोगी द्वारा डाक्टर के उपचार पर 'क्यों ?' का प्रश्न कभी उपस्थित नहीं किया जाता है । इसलिये गुरुको वेद में'गुरु मृत्योः' कहा है । अर्थात् अपने को पूर्ण मिटा देने की तैयारी हो तो गुरु के पास जाना चाहिये । कुछ अहंकार बचाना है तो गुरु के पास कभी मत जाना । इसलिये गुरु के लिये कहा है वह शिष्य को जीवित ही मार डालता है । सब कुछ रूपान्तरित करदेता है । इसी जीवन में दुबारा जन्म (Twice born)दिलाता है, इसी को संन्यास कहते हैं । तुम गुरु को कैसे पहचान सकोगे ? जहाँ तुम्हें विराट् की झलक मिलजाए, जिस बून्द में सागर का स्वाद आजावे तो वहीं ठहर जाना, पूरी झलक तो परमात्मानुभूति पर ही मिलेगी ।

जब तुम्हारा अपने को शरीर मानने का मिथ्या अभिमान दूर हो जायगा तब मालुम हो जायगा कि आत्मा के सिवाय कोई गुरु नहीं है । यदि गुरु पूर्ण आत्मज्ञानी श्रोत्रिय–ब्रह्मनिष्ठ है तो उसके काम, क्रोध, लोभ, मोह की लीला में कृष्ण, राम, दुर्वासा, वामनादि अवतारों की भावना करना चाहिये । कृष्ण अष्ट पटरानियों के स्वामी होकर भी ब्रह्मचारी रहे एवं दुर्वासा समस्त भोग ग्रहण कर भी उपवासी बने रहे यह लोक प्रसिद्ध घटना है । अतः सद्गुरु के उपदेशों को ही ग्रहण करे, उनके लीलामय क्रियाओं पर मंगलमयी दृष्टि रखें । तुम जैसे कामी, क्रोधी, लोभी, मोही, अहंता–

ममतावान् तो हो तुम गुरु को भी वैसा ही कामी, क्रोधी, लोभी, देहधारी मानते हो । तुम्हारा काम आत्म सम्पर्ण करने का है । व्यक्तित्व का लेश मात्र भी अंश न बचे । तब दुःख–सुख रह ही नहीं सकता ।

विषय जगत् का आप पर किसी प्रकार का प्रभाव न पड़ सकता । जो जिस जाति का होता है उसी पर उसका असर होता है । देह, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि प्रकृति के अंग है । इसीलिये उन पर संसारी विषय का प्रभाव पड़ता है । शरीर–संसार जड़ है । जड़ का प्रभाव तो जड़ पर ही पड़ेगा, किन्तु आप तो चेतन है । आप पर जड़, शरीर का प्रभाव नहीं पड़ सकता । आप असंग निर्लेप हैं । **'असङ्गो ह्ययं पुरुषः'** (४।३।१५ बृहद्. उप) मन, बुद्धि पर असर पड़े तो पड़े मन, बुद्धि हमारे नहीं है । **''मनोबुद्धयहंकार चित्तानि नाहं''** मन, बुद्धि प्रकृति के हैं ।

जड़ मन, बुद्धि को अपना मानना ही हमारी सबसे बड़ी भूल है । उन्हें अपने मानने से ही जीव दुःखी–सुखी होता रहता है । **मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति'** (१५।७ गीता) तुम मन, बुद्धि के नहीं प्रत्युत् परमात्मा के हो । **'ममैवांशो जीवलोके जीव भूत सनातन'** । इसलिये प्रकृति का प्रभाव मन, बुद्धि पर पड़ता है । आप तो सुख–दुःख में समान, साक्षी, द्रष्टा ही बने रहते हैं ।

**'सम सुख दुःख स्वस्थः'** । १४।१५ गीता

परन्तु कठिनाई यह है कि आप पराई वस्तु के साथ मिल जाते है और मन, बुद्धि को अपना मान कर और उसके धर्म को अपना मान चिन्तित होते रहते हो । अतः न मन, बुद्धि को अपना मानो और न उनके धर्मों को अपना जानो । आप ज्यों के त्यों एकरस रहते हैं । आप सत् वस्तु है । मन, बुद्धि असत् वस्तु का आप में प्रवेश नहीं हो सकता । जैसे चोर, वेश्या, कुत्ते आदि के मन, बुद्धि आप के नहीं, इसी प्रकार इस शरीर के मन, बुद्धि भी आपके नहीं है ।

गुरु कृपा समुद्र की तरह है, जिसके पास जितना बड़ा पात्र है भर ले जाय कोई रुकावट, पक्षपात नहीं । गुरु कृपा वर्षा की तरह है, जैसे वर्षा

समान होती है, जितनी गहराई, खाली जगह पात्र में है, वह उतना ही भर जाता है । इसी तरह जिसके हृदय में जितनी अधिक श्रद्धा है, वे उतने ही आनन्द में भरजाते हैं, जो अहंकारी हैं वे नदी में पड़े पत्थर की तरह सूखे ही रहजाते हैं ।

जब तक साधक अपने को देह मानता है, तब तक बाह्य, शरीर धारी गुरु की जरूरत रहती है । जब देह तादात्म्य टूट जाता है तब आप ही स्वामी है ।

सच्चा सद्‌गुरु वही है जिसने विश्वात्मा से एकता सोऽहम् भाव जाग्रत कर लिया है । गुरु वही है जो सदा आत्म भाव में जाग्रत रहता है । वह सूर्य के प्रकाश के समान सभी के साथ समान भाव रखता है ।

शिष्य का सच्चा जन्म दिवस तभी होता है जिस दिन वह निज आत्म सत्ता में प्रवेश करता है जो जन्म–मृत्यु से परे है ।

तुम देहधारी निरन्जन को छः विकारों तक ही क्यों सीमित देखते हो ? निरन्जन तो विश्व व्यापि सत्ता का नाम है, जो प्रत्येक शरीर में निर्लेप शुद्ध रूप से विद्यमान है । अतः व्यक्ति निरन्जन नहीं हो सकता ।

सद्‌गुरु ही शिष्य को ढूंढ लेता है । तुम सद्‌गुरु के पास बैठकर भी नहीं पहचान सकोगे । तुम्हें उसके साथ पिछले जन्म का स्मरण नहीं हो सकेगा । सद्‌गुरु ही तुम्हें पहचान लेता है, खोज लेता है । सद्‌गुरु तुम्हारे जीवन में क्रान्ति लाता है किन्तु तुम्हारे सहयोग के बिना वह कुछ नहीं कर सकता । जब सत्‌गुरु की मौजूदगी तुम्हें तुम्हारे जीवन से अधिक मूल्यवान् मालुम पड़ने लगे, तब ही तुम उनके रंग में रंगने को राजी हो सकोगे । अभी तो तुम्हें अपने जीवन का मुल्य गुरु के जीवन से ज्यादा मालुम पड़ता है । अपनी मर्यादाओं का ज्यादा मुल्य मालुम पड़ता है ।

सत्‌गुरु के पास होने का इतना ही अर्थ है कि तुमने अपने अहंकार को छोड़ दिया, अपने पर भरोसा खो दिया । सत्‌गुरु के शरणापन्न होने का मतलब उनके परम प्रेम में पड़ जाना किन्तु शरीर का प्रेम क्षुद्र है वह ज्यादा टिकाऊ नहीं है । ऐसा प्रेम जिसकी कोई व्याख्या नहीं हो सकती । सत्‌गुरु वही है जो तुम्हारे में छिपे अन्तरतम की वाणी बोलता है ।

सद्‌गुरु में जो सौन्दर्य है, आकर्षण है वह शरीर का नहीं, लौकिक नहीं है, वह अलौकिक है । पंच भूत का नहीं है । उस पारलौकिक में डूबने का साहस चाहिये । समर्पित होने की जोखिम उठाना पड़ता है । सही द्वार पर पहुँचने के पहले अनेको नकली, झुठे गुरु दरवाजों को खटखटाना पड़ता है । जो अपने को मिटादेता है तभी उसका सच्चे सद्‌गुरु से सम्बन्ध जुड़ता है ।

सत्‌गुरु का रिस्ता हार्दिक प्रेमका है । गुरु ऋण तुम किसी भी बाह्य वस्तु को देकर नहीं चुका सकोगे, जब तक कि तुम स्वयं गुरु की अनुभूति जैसी अपनी स्थिति प्राप्त न करलो । उसके पास बैठ तुम्हें परम सत्य की झलक मिल जाती है । परमात्मा के लिये वह झरोखा बन जाता है । उसके द्वारा तुम परमात्मा का साक्षात्कार कर पाते हो । तुम्हारे भीतर कुछ सोया जागने लगता है । वहाँ से उठने की इच्छा ही नहीं होती तुम अवश हो जाते हो ।

निष्कर्ष तुम्हारे अनुभव से आना चाहिये न कि किसी राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, नानक, कबीर, शंकराचार्य से अपने होने का प्रमाण पत्र एकत्र करे । स्वयं प्रमाणिक बनो । वह परमात्मा हमेशा मरा है आज वह नहीं है जिसे राम, कृष्णादि रूप में अपने से भिन्न सिद्ध किया गया है ।

**एको सुमिरो नानका, जल थल रह्यो समाय ।**
**दूजो काहे सुमिरिये जन्मे और मरजाय ।।**

गुरु कभी नहीं कहता है कि मैं गुरु हूँ । कर्ता पन छोड़कर के ही तो वह सतगुरु हुआ है । भले ही वह अशिक्षित ही क्यों न हो । वह व्यक्ति नहीं है वह अव्यक्ति है, वह परमात्मा रूप है । यदि तुम तर्क छोड़ उसके प्रेम में पड़ जाओ तो ही घटना घटेगी । यदि गुरु के साथ प्रेम का सम्बन्ध नहीं हुआ, रागात्मक सम्बन्ध नहीं हुआ तो कुछ हो ही नहीं पाएगा । जब तक सत्‌गुरु की प्रेम गन्ध तुम्हारे मनमें न बस जाए, जब तक तुम दीवाने न हो जाओ तब तक कुछ नहीं होगा । गुरु शिष्य का सम्बन्ध रागात्मक है वह प्रेमी–प्रेमीका की तरह बल्कि उससे भी परे का है यहाँ कृपणता से काम नहीं चलेगा । यहाँ तो उछल कर प्रेम भाव से सौभाग्य समझकर डुबकी

लगा लेना होगी । सद्‌गुरु ब्रह्मरूप है । यदि सत्‌गुरु तुम्हारा हाथ पकड़ता है तो समझो परमात्मा ने ही हाथ पकड़ा है । परमात्मा से ही मिलना है । यदि ऐसी श्रद्धा, प्रेम तुम्हारे मनमें सद्‌गुरु के प्रति जगी है तो समर्पण हुआ अन्यथा समर्पण नहीं हुआ है ।

जीवन का सबसे बड़ा सत्य है मन से भेद का गिरजाना तभी कोई सच्चा सद्‌गुरु कहलाने का अधिकारी होता है । दिन–रात, पुण्य–पाप, अच्छा–बुरा, अपना–पराया, ऊँच–नीच, जन्म–मृत्यु आदि भेद तो अज्ञानी भी जानता है । एकबार कोई जिज्ञासु सच्चे सद्‌गुरु के निकट श्रद्धा से बैठ जाय तो फिर वह संत रहे या शरीर छोड़ दे, वह नाता ऐसा है कि जब तक उस जीव का उद्धार नहीं होता है, तब तक वह सद्‌गुरु उस जीव को हर जन्म में जा–जाकर जगाते रहते हैं । यह ऐसा नाता है कि जन्म–जन्म तक बना रहता है उसके बिना जीव को पूर्णता की प्राप्ति नहीं होती है ।

गुरु शिष्य के साथ जो सम्बन्ध है वह श्रद्धा व प्रेम का है । यह घनिष्ठ सम्बन्ध जो स्थापित किया जाता है वह शिष्य को उन्नती के शिखर पर पहुँचाने के लिये अति आवश्यक है । गुरु का मिलन तो प्रेम जैसा है । जैसे किसी को देखते ही मन में उसके प्रति प्रेम उमड़ जाय उस और से दृष्टि हटाने की इच्छा न हो । उसके पास से उठ जाने की इच्छा न हो, यह प्रेम संसार से बाहर ले जाता है और सब प्रेम संसार में लेजाते हैं । यह प्रेम शरीर के पार लेजाता है । सभी प्रेम संसार में स्थूल शरीर तक ही रहता है । यह प्रेम सूक्ष्म से निराकार, अशरीरी का है ।

गुरु को साष्टांग प्रणाम का अर्थ अपने देहाभिमान का नाश करना व परमात्मा में समर्पित हो जाना है । जैसे नदी अपने नाम, रूप को खो कर सागर में समर्पित हो जाती है । बाहर के चरण वन्दन से गुरु को धोखा नहीं दिया जा सकेगा । गुरु अनेको तरह से हमारा श्रद्धा की परीक्षा कर देखते हैं कि इसका अहंकार का नाश हुआ है या नहीं ।

शिष्यों द्वारा जो गुरु को भेंट समर्पित की जाती है वह गुरु के लिये नहीं की जाती है बल्कि वह तो अपनी मनोकामना पूर्ति केलिये की जाती है । जैसे मछली, बकरी, मुर्गा आदि पालनेवाला बकरे, मछली, मुर्गा को

खिलाने के लिये नहीं खिलाते है, न पालते हैं, प्रत्युत् मुर्गा, बकरे को खाने के लिये ही खिलाते हैं ।

''मैं आत्मा को नहीं जानता'' यह विचार करने वाला साधक यह भी विचार करे कि 'मैं नहीं जानता' यह कहने वाला कौन है ? तब मालुम होगा कि आपतो उस न जानने को भी जानने वाले स्वतः सिद्ध ज्ञान स्वरूप आत्मा ही हुए ।

ब्रह्मज्ञान कोई प्राप्त करने की वस्तु नहीं जिसे पाकर मनुष्य आनन्द का अनुभव कर सके ।

जिस आत्मा को तुम खोज रहे हो वह आत्मा तुम स्वयं ही हो । तुम्हारा देह भाव ही तुम्हें दुःख दे रहा है । दसवें की खोज में लगे व्यक्ति स्वयं दसवां ही है ।

वास्तव में तुम वही सच्चिदानन्द शुद्धात्मा हो जिसे तुम बाहर खोज रहे हो । तुम सदा सर्वदा आत्मा ही हो । आत्मा अखण्ड, विशुद्ध ही है इसलिये उस अखण्ड आत्मा से तुम भिन्न नहीं हो आत्मज्ञान एवं आत्म निष्ठा यही तुम्हारे समस्त दुःखों से छूटने का सच्चा मार्ग है ।

**दग्धस्य दहनं नास्ति पक्वस्य पचनं यथा ।**
**ज्ञानाग्नि दग्ध देहस्य न च श्राद्ध न च क्रिया ।।** ४।७ पैङ्गल उप.

कुम्हार द्वारा पहले से आग में पके हुए मटके को फिर से आग में पकाने की जरूरत नहीं रहती है अथवा पके हुए चावल को, भात को पुनः कोई नहीं पकाता है । उसी तरह ज्ञानाग्नि द्वारा जिसका देह भाव दग्ध हो गया है, कर्ता भाव नष्ट हो चुका है, उस आत्म निष्ठ ज्ञानी को अपने कल्याण हेतु किसी प्रकार श्राद्ध तथा अज्ञानियों की तरह कर्म, उपासनादि साधनों को करने की जरूरत नहीं रहती है ।

सिनेमा के पर्दे पर चित्र आते-जाते हैं, परन्तु परदा अचल व निर्लेप ही रहता है । उस पर्दे पर हत्या का न रक्त प्रवेश करता है, न वर्षा का जल पर्दे को भिगाता है । न फिल्म में अग्नि व शस्त्र प्रहार से पर्दे की क्षति होती है क्योंकि फिल्म समाप्ति पर परदा ज्यों का त्यों निर्लेप, असंग

एवं अचल ही दिखाई देता है । आत्मा में जगत् चित्र को उसी प्रकार मिथ्या जानना चाहिये जैसे सिनेमा पर्दे पर कल्पित चित्र, फिर तो जगत् दृश्य में सत्य बुद्धि नहीं हो सकेगी । अतः आत्म दर्शन के बाद जगत् चित्र दिखाई दे या अदृश्य हो जावे इसकी चिन्ता तुम छोड़दो । तुम केवल असंग, साक्षी रहो ।

जैसे परदे के बिना चित्र नहीं इसी प्रकार आत्मा के बिना जगत् नहीं । ज्ञानी जानता है, जगत् व आत्मा एक ही तत्त्व है । जगत् पर्दे के कारण ही अव्यक्त आत्मा का भान व मान होता है । जगत् पर्दा न होता तो आत्मा अव्यक्त रूप में ही रहती । जगत् पर्दे की वजह से अव्यक्त आत्मा व्यक्त हो पाती है ।

वेद उपनिषदों का मुख्य अभिप्राय तुम को आत्मा की अमरता का बोध देकर अधिकार पूर्वक यह घोषणा करने का है कि वह ब्रह्मात्मा तू ही है '**तत्त्वमसि**' ।

आत्मा सर्वत्र, सर्वकाल में विद्यमान है । आना–जाना अचल आत्मा में नहीं है । आना–जाना, जन्म–मृत्यु स्थूल शरीर का धर्म है । सर्वव्यापी अमर आत्मा तुम सदा एक रस, एक रूप में ही रहते हो ।

अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर चावल की तरह प्रारब्ध वश जहाँ भी शरीर रहे, जैसे रहे, उस नश्वर शरीर सम्बन्धी बातों पर ध्यान नहीं देना चाहिये ।

घर आये मेहमान का ज्यादा सत्कार करेंगे तो वह ज्यादा दिन रह जायगा । यदि सम्मान नहीं करोगे तो जल्दी चला जायगा यही बात शरीर योग की है । यदि तुम छोटी–छोटी बीमारियों पर ज्यादा ध्यान दोगे तो वह टिका रहेगा । यदि ध्यान नहीं दोगे तो वह शिघ्र ही अपना भोग लेकर चला जावेगा ।

शिव, राम, कृष्ण थे या नहीं स्वर्ग, वैकुण्ठ है या नहीं किन्तु तुम अभी यहाँ हो इसमें किसी प्रकार का सन्देह किसी को नहीं हो सकता । अतः तुम साक्षात् नित्य अखण्ड आत्मा सत्य हो ।

ध्यान करने वाले, साधन करने वाले, महान योगी, सिद्ध, साधक द्वैत ही दृढ़ कर रहे हैं ।आत्मा अद्वय होने से उसका ध्यान नहीं किया जा सकता क्योंकि एक ध्यान करने वाला स्वयं आत्मा एवं दूसरा ध्यान में प्रकट होने वाला आत्मा ध्येय नहीं हो सकता। आत्मा तो अद्वय एवं निराकार है, वह तो स्वयं द्रष्टा है, वह कभी दृश्य नहीं होगा ।

आत्मा वह एक आँख है जिसके द्वारा सब कुछ देखा जाता है किन्तु तुम किसीको दिख नहीं सकते । फिर किसका ध्यान करना है ? यह आँख ही हर जगह है जिसे अस्ति, भाति, प्रिय या सच्चिदानन्द कहते हैं ।

सद्गुरु की प्रदक्षिणा करने वाला द्वैत को ही सिद्ध कर रहा है । जब एक ही तत्त्व है, तब दूसरा कौन है जिसकी प्रदक्षिणा, करोगे । प्रदक्षिणा करने का मतलब ही उस व्यापक अखण्ड सत्ता को सीमित करना है ।

क्या सद्गुरु पत्थर की मूर्ति है, जिसे बीच में खड़ा कर प्रदक्षिणा कर रहे हो। हजारों ब्रह्माण्ड मुझ ईश्वर में निरन्तर घूम रहे हैं, मैं अविकारी तथा अचल रूप हूँ ऐसा ध्यान ही प्रदक्षिणा है ।

अद्वैत दृष्टि सिर्फ भाव और मन में ही होनी चाहिये । अद्वैत भाव का यह भी मतलब नहीं कि हम गुरु को नमस्कार नहीं करें । कुत्ते के साथ हम नहीं खा सकेंगे, हाथी हमारे जितना खाकर पेट नहीं भर सकेगा । हम पक्षी जितना खाकर पेट नहीं भर सकेंगे । जो सूअर खालेता है, हम नहीं खा सकेंगे । व्यवहार में सर्वत्र द्वैत दृष्टि ही रखना होगी ।

ध्यान समाधि सुख–दुःख सबको जो जानने वाला है उसको जानो कि वह इस देह मन्दिर में कौन देव है ? यदि उसे नहीं जाना तो ध्यान कैसे होगा ? उस सबके अनुभव करने वाले को जानलेना ही ध्यान है । वही आत्मा है और वही मैं हूँ । अपने को आत्मा जान लेना ही ध्यान ।

आप इतना ही याद रखे कि जड़ वस्तु के साथ आपका कोई सम्बन्ध नहीं है । वास्तव में मुक्ति हर जीव की स्वतः एवं स्वभाविक

स्थिति है, ज्ञान पाकर कोइ नूतन मुक्ति होती नहीं है । साधक द्वारा जो होती है वह वस्तु स्थिति पुनः नष्ट हो जाती है, छिन जाती है । जो है वह कभी मिटती नहीं है ।**'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत:'**। २।१६ गीता ।

मन, बुद्धि के साथ आप का सम्बन्ध है नहीं । आपने भूल से उनसे झूठा सम्बन्ध मानलिया है । इसी तरह साधक कुण्डलिनी के जागरण के लिये परेशान रहते हैं। किन्तु कुण्डलिनी जागे या सोती रहे उससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं । हम पराये के साथ मैं भाव कर दुःखी होते रहते हैं । तीनों शरीर, तीनों अवस्था, तीन गुण, पंच कोशों के साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है । अज्ञानी साधक जड़ वस्तु में तादात्म्य कर व्यर्थ दुःखी होते रहते हैं ।

जड़ता का सम्बन्ध अभ्यास से नहीं छूटेगा । उसके लिये तो विवेक विचार ही एकमात्र साधन है । हमारे व परमात्मा के बीच जड़ शरीर का परदा नहीं है । प्रत्युत् शरीर जड़ माने हुए सम्बन्ध का परदा है जो विवेक द्वारा ही निवृत्त होता है । विवेक यही करना है कि इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसा स्वीकार करलो तो अभी मुक्त एवं शांत हो । मन–बुद्धि को अपना मानना ही भूल है । सार बात यह है कि जड़ व चेतन कभी मिलते नहीं । देह को अपना मानकर व्यर्थ जीव दुःखी होता है । हमारा सम्बन्ध केवल परमात्मा से है । अनित्य संसार की वस्तु से हमारा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है । जैसे सूर्य प्रकाश व अन्धकार का कोई सम्बन्ध नहीं है ।

# सहज है परमात्मा

परमात्मा सर्वत्र है । **'समोऽहं सर्वभूतेषु'** (गीता ९/२९) यदि सचमुच में कोई साधक परमात्मा को प्राप्त करना चाहे तो फिर उसे कुछ भी साधन, चिन्तन करने की जरूरत नहीं है । क्योंकि परमात्मा सर्वव्यापक है । इसलिये उसका कोई विशेष रूप नहीं है । जब आकार विशेष नहीं है तो चिन्तन हो ही नहीं सकता । यदि चिन्तत होगा तो सर्वरूप में ही होगा । परमात्मा अचिन्त्य है । अचिन्त्य का चिन्तन तो हो ही नहीं सकता । आकार वस्तु का ही चिन्तन हो सकता है । कुछ भी चिन्तन न करने से हमारी स्थिति स्वतः परमात्मा में ही होती है । इसलिये परमात्मा की प्राप्ति का मुख्य साधन कुछ भी न करना । साधक जहाँ है, जिस स्थिति में है, वहीं वह परमात्मा में ही है । क्योंकि यहाँ परमात्मा के अलावा कोई भी किञ्चित् भी अन्य नहीं है ।

चुप होना, शान्त होना, कुछ भी न करना यह एक बड़ा गुप्त साधन है, जिसका अधिकांश साधकों को पता नहीं है । सब यही समझते है कि परमात्मा बिना किये नहीं मिलता है । याद रखे ! करने से वह वस्तु मिलती है जो हमसे दूर एक देश में, एक काल में, एक रूप में होती है । ऐसा एकदेशीय, परिच्छिन्न पदार्थ प्राप्त हो जाने पर उस का नाश भी हो जाता है । अस्तु करने से संसार की प्राप्ति होती है और न करने से परमात्मा की प्राप्ति होती है ।

जो सब जगह है, सब समय है, सब वस्तुओं में है, सब व्यक्तियों में है, सब अवस्थाओं में है, जो सब परिस्थितियों में रहता है उस सत्ता की प्राप्ति के लिये क्रिया करने की कोई जरूरत नहीं रहती है । एक सच्चिदानन्द परमात्मा

के सिवा यहाँ, वहाँ, जहाँ, कहाँ कुछ भी अन्य नहीं है, ऐसा निश्चय करके फिर कुछ भी चिन्तन न करे । यदि साधक ऐसे जो कूटस्थ (ठोंस) है जिसमें सूई की नोक रखने की भी खाली जगह नहीं है, उसकी प्राप्ति का साधन करता है तो वह अपने मन के साक्षी रूप में विद्यमान प्राप्त परमात्मा के साथ दूरी ही स्थापित कर रहा है । वह साधक होकर भी अखण्ड ब्रह्म सत्ता को खण्डित परिच्छिन्न, दूर देश में मानने वाला ब्रह्म हत्यारा ही है ।

जिस पुरुष की तीन पत्नियाँ हो और पुरुष मर जावे तो क्या ऐसा माना जा सकेगा कि दो स्त्रियाँ तो विधवा हो गई एवं एक सधवा स्त्री बचगई, वह बाद में विधवा होगी । ऐसा कहना नासमझी ही है । तीनों हीं स्त्रियाँ विधवा हो जावेगी । इसी प्रकार ज्ञानाग्नि द्वारा जीव के सभी कर्म भस्म हो जाते हैं ।

**'ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।।'** –४/३७ : गीता

जो साधक कहते हैं कि जब ज्ञान द्वारा सभी कर्म भस्म हो जाते हैं तब भी प्रारब्ध नष्ट नहीं होता है, यह मानना भ्रम है, यह तो अज्ञानी को समझाने के लिये कथन है ।

चलता है पैर, करता है हाथ, देखती है आँख, सुनता है कान बोलती है जिह्वा, चबाते है दाँत, चखती है रसना, सोचता है मन, निश्चय करती है बुद्धि, चिन्तन करता है चित्त और अहंकार कुछ भी नहीं करता है फिर भी वह सब इन्द्रियों के धर्म को चुरा कर मिथ्या अहंकार कहता है कि मैं जा रहा हूँ, मैं देख रहा हूँ, मैं सुन रहा हूँ, मैं कर रहा हूँ । दिल्ली, बाम्बे से ट्रेन, प्लेन आते हैं, व्यक्ति कहता है मैं आया हूँ ।

जब तक आत्मा का बोध नहीं होता तब तक जीव के मन से कर्ता भाव नहीं जाता है । इसीलिये उसे अच्छे–बुरे कर्मों का फल सुख–दुःख भोगना पड़ता है ।

**कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।**
**पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ।।** १३/२० गीता

हे आत्मन् ! पुरुष व प्रकृति को तुम अनादि समझो । इसमें विकारों तथा गुण कर्मों को प्रकृति से उत्पन्न जानो । क्रियाओं को उत्पन्न

करने में प्रकृति हेतु कही जाती है । और प्रकृति में तादात्म्य बुद्धि करने से पुरुष ही सुख–दुःख का भोक्ता होता है । विकृति मात्र जड़ प्रकृति में ही होती है । चेतन असंग, निष्क्रिय होने से उसमें सुखी–दुःखी होना धर्म नहीं है । प्रत्युत् जड़ के संग में अपने को सुखी–दुःखी मानना यह चेतन जीव का मन के साथ अध्यास ही एकमात्र कारण है । चेतन कभी सुखी–दुःखी नहीं होता । अचल चेतन में सुखी–दुःखी भाव नहीं हो सकते । दो भाव परिवर्तनशील प्रकृति में ही हो सकते हैं ।

**पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।**
**कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ।।** १३/२१ गीता

प्रकृति में स्थित पुरुष (जीव) ही प्रकृति जन्य गुणों का भोक्ता बनता है और गुणों में तादात्म्य बुद्धि अर्थात् गुणों का संग ही इसके उँच–नीच योनि में जन्म लेने का कारण होता है ।

**उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता मेहश्वरः ।**
**परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ।।**१३/२२ गीता

इस देह में स्थित मैं आत्मा वास्तव में परमात्मा ही है । मैं साक्षी होने से उपद्रष्टा और यथार्थ सम्मति देने वाला होने से अनुमन्ता, सबको धारण पोषण करने वाला होने से भर्ता, जीव रूपसे भोक्ता, ब्रह्मा आदि का भी स्वामी होने से महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्द घन होने से परमात्मा कहा जाता हूँ ।

**य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।**
**सर्वथो वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ।।**१३/२३ गीता

अनन्त जन्मों के पुण्य से परिपाक चित्त सद्गुरु निकट जाकर देह, इन्द्रिय, मन से भिन्न परमात्मा को वही मैं हूँ इस प्रकार साक्षात् आत्मभाव से पुरुष को और मिथ्या अविद्या गुणोंके विकारों सहित प्रकृति को तत्त्व से जानता है, वह ब्रह्मवित् ज्ञानी पुरुष प्रारब्ध कर्मानुसार सब प्रकार से कर्तव्य कर्म करता हुआ भी इस शरीर को त्याग करने के बाद किसी भी कर्म का फल भोगने हेतु अन्य शरीर को ग्रहण नहीं करता है अर्थात् पुनर्जन्मको प्राप्त नहीं होता है ।

**अमृतेन तृप्तस्य पयसा किं प्रयोजनम् ।**
**एवं स्वात्मानं ज्ञात्वा वेदैः प्रयोजनं किं भवति ।।** ४/८ पैङ्ग. उप.

जिसे आत्म स्वरूप का बोध हो चुका है उसे अब वेद में कहे जप, व्रत, उपवास, यज्ञ, तीर्थ, मन्दिर, ध्यानादि साधन करने की क्या जरूरत ? ज्ञानी स्वेच्छा से कुछ नहीं करता है, वह जो कुछ करता है वह परेच्छा या अनिच्छा से दूसरों के लिये करता है ।

भूख–प्यास अपने खाने–पीने से दूर होती है, इधर–उधर की बातें करने से दूर नहीं होती है । इसी प्रकार आत्म ज्ञान द्वारा जीव के सब दुःखों की निवृत्ति होती है । अन्य साधन द्वारा दुःख निवृत्ति नहीं हो सकती है ।**'नान्यःपन्था विद्यतेऽयनाय'** श्वे.उप.३/८

जो नष्ट होने वाला ही है, मरने वाला ही है उसे, आप कब तक बचाकर रख सकोगे ? क्या राम, कृष्ण, भीष्म, हिरण्य कश्यप जैसे तपी, ब्रह्मचारी, योगी, अवतारी बच सके हैं ? मुर्दों को स्पर्श कर जीवनदान करनेवाले क्या स्वयं अमर हो सके ? इसीलिये श्रीनानक देव जी कहते हैं–

**एको सुमिरो नानका जल थल रह्यो समाय ।**
**दूजो काहे सुमिरिये जन्मे अरु मरजाय ।।**

तुम्हारे महा मृत्युन्जय जप करने से क्या तुम बच सकोगे ? जन्म होना तो मृत्यु के लिये है । एक बार आत्म ज्ञान प्राप्त करलो तो फिर काया कल्प कौन करना चाहेगा ? फिर महामृत्युञ्जयका जप किसके लिये करोगे ?

तुम जागते हो तो सब कुछ है । तुम्हारे देह भाव में जाग्रत होने पर ही संसार है, तुम सो जाओ तो कुछ नहीं है । जाग्रत अवस्था में भी सुषुप्ति की तरह अहं–मम् भाव रहित में रह जाओ तो समस्त व्यवहार के तुम साक्षी हो, कर्ता नहीं हो सकोगे । अपने को जाने बिना सब जाना, देखा गया मूल्य हीन, व्यर्थ, बन्धन एवं अहंकार मात्र है ।

अपने आपको जानना कि मैं यह शरीर नहीं बल्कि नित्य आत्मा हूँ यही सर्व श्रेष्ठ सिद्धि है, यह आत्मसाक्षात्कार है। यदि बुद्धि सदा आत्म विचार में

डूबी रहती है तो फिर आत्म साक्षात्कार, आत्मदर्शन हो ही गया है ।

जो पहले से ही तुम्हारे शुभ कर्मों का फल निश्चित हो चुका है, उसी सिद्ध फल को प्राप्त हो जाने का आशिर्वाद किसी गुरु से प्राप्त होता है नूतन कुछ नहीं मिलता । बोया हुआ बीज ही फलित होता है, बिना बीज लगाये कभी किसी के आशिर्वाद से कुछ मन चाहा फल उत्पन्न नहीं हो सकता ।

शरीर का मोह रूपी अन्धकार का मिट जाना एवं आत्म ज्ञान रूपी ज्योति का प्रकट होना ही सच्ची दीपावली है ।

जो सर्वकाल में है उसमें आत्मनिष्ठा करना कि 'वही मैं हूँ' यही सर्व श्रेष्ठ सिद्धि है, शेष सभी सिद्धियाँ सभी नाशवान् एवं बन्धन का कारण है ।

नदी का पूर्ण समर्पण तभी माना जायगा जब वह सागर में मिलजाती है । इसी प्रकार जीव का पूर्ण समर्पण तभी माना जायगा जब यह अपने देह भाव का सम्पूर्ण त्याग करदे तब केवल एक आत्मा ही शेष बचती है । अब वह कहाँ समर्पण करने जावे ? एक ही आत्मा सर्वत्र है । यह बुद्धि जो अहंकार रूपी 'मैं' है, वह अपने द्रष्टा, साक्षी, आत्मभाव में बदलजाना यही सर्व समर्पण है ।

साधना किसकी करोगे ? यह साधन करने वाला जड़ है या चेतन ? चेतन है । तो वह चेतन एक है या दो ? एक है । अब बताओ तुम चेतन हो या जड़ ? तब तुम चेतन अब किसे पाने के लिये साधना करोगे ? मैं आत्मा हूँ यह भली प्रकार से जानलेना ही सच्ची साधना एवं परमसिद्धि है । साधना की आवश्यकता तो तब होगी जब आत्मा से कुछ पृथक् प्राप्त करने जैसी कोई बहुमुल्यवान् पदार्थ हो । साधना उसके लिये आवश्यक है जो अपने को शाश्वत नहीं जानता है और अनात्मा देह, प्राण, मन, बुद्धि को अपना होना याने मैं रूप जानता है । जो सब रूपों में एक आत्मा को ही देखता है, उसे किसी प्रकार साधन करने की जरूरत नहीं रहती है । जो देहभाव में फंसा है उसके लिये गुरु एवं साधना की जरूरत रहती है ।

जो सदैव है, वह साक्षात् है । स्वआत्मा ही बिना इन्द्रिय बिना साधन के साक्षात् है । साक्षात् का अर्थ ऐसा न समझो कि जैसे हम प्रातः सूर्य दर्शन, सूर्य का साक्षात् करलेते हैं । इस तरह ईश्वर तुम्हारी भक्ति, तप, प्रार्थना से किसी अन्य लोक से आकर प्रकट होने वाला नहीं है । यदि ऐसी धारणा कर रहे हो तो फिर आप शाश्वत को छोड़ किसी कल्पित नाम, रूप के दर्शन की इच्छा कर रहे हो । जो अस्थायी एवं भ्रम रूप है ।

**यो वै भूमा तत् सुखम् यदल्पं तद दुःखम्** – ७/२४/१ छा.उप.

जो भूमा है, विभू है, अखण्ड है वह सुख रूप है । जो देह, संसार है वह सब अल्प, नाशवान् विकारी है उस में सुख नहीं है ।

जिस शिष्य की सद्‌गुरु द्वारा भेद, भ्रान्ति दूर हो जाती है और यह ज्ञान हो जाता है कि वह स्वयं और ब्रह्म एक रूप है, तब उसे सारी सृष्टि ब्रह्ममय दिखाई देगी। जिसे ब्रह्मज्ञान नहीं हुआ है, उसे प्रथम कहना पड़ता है कि तू द्रष्टा है, यह जगत् दृश्य एवं मिथ्या है । परन्तु पूर्ण बोध होने पर यह भेद मिटजाता है कि 'सोऽहम्' वह मैं हूँ, यह तू नहीं और यह मैं नहीं तब न दृश्य है, न द्रष्टा है। जैसे पत्थर व मूर्ति एक है इसी तरह ब्रह्म व जगत् एक ही है।

आत्मा अखण्ड होने से वह सर्व देश, सर्व काल, सर्व रूप में विद्यमान है उसे साधन द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता । अप्राप्त एक देशीय, जड़ वस्तु को ही साधन द्वारा प्राप्त किया जाता है । साधन तो देहात्म बुद्धि और भ्रान्तियों को दूर करने के लिये होती है । आत्मा जो तुम स्वयं हो, उसे पाने की इच्छा करना ही भ्रम है

सब साधना मैं शरीर हूँ इस भ्रम को हटाने के लिये है । आत्मा शाश्वत है, **वह मैं हूँ** यह बोध ही आत्मा है, यह बोध ही परमात्मा है । जो सर्वत्र है उसे कहाँ खोजोगे ? सबसे पहले यह जानलो कि यह खोजने वाला कौन है ? बस खोजने वाले को ही खोजलो तो फिर तुम्हारी खोज समाप्त हो जावेगी, क्योंकि जिसे तुम खोजने निकले हो

वह तुम स्वयं ही हो । यह जानने की इच्छा जिसे जाग्रत हुई है और जिसे जानना चाहते हो यह दो नहीं है । वह एक ही है । अतः आत्म विचार कर जानो कि वह मैं हूँ, इस आत्म निष्ठा को कभी मत खोना । उसमें रहकर उसी को खोज रहे हो । देहली में बैठे देहली पहुँचने का मार्ग, समय एवं दूरी पूछ रहे हो, यही अज्ञान आवरण है । आत्मा तो सदा अहं–अहं, मैं–मैं की घोषणा कर रहा है । हम सब उससे ही हैं वही यह सब रूपों में विद्यमान है ।

तुम तुमको ही खोज रहे हो । आत्मा होते हुए भी पूछ रहे हो कि हम आत्मा कहाँ खोजे ? जैसे कस्तूरीवाला मृग पूछे कि कोई मुझे बताओ कि यह कस्तूरी किसी जंगल में, किस वृक्ष पर, किस पर्वत पर किस खदान में मिल सकेगा ? जैसे मछली जल की खोज करे कि जल कहाँ है ? कैसा है ? उसे मैं पाना चाहती हूँ, तो यह उसकी मूर्खता एवं स्वस्वरूप का अज्ञान ही कहलावेगा । ज्ञान दृष्टि खुल जाने पर हमें पता लगता है कि मैं आत्मा स्वयं हूँ । ऐसी दृष्टि खुल जाने पर ज्ञानी संसार में रहकर भी आसक्त नहीं होता है ।

सहज स्थिति को चिदाकाश कहते हैं । इस चिदाकाश से ही मैं चिदाभास अर्थात् अहंकार उत्पन्न होता है । उसे चित्ताकाश भी कहते हैं । जब चित्ताकाश फैलता है और सभी नाम आकार को धारण करता है तब उसे भूताकाश कहते हैं । जब चित्ताकाश अपने मूल स्वरूप को देखता है तब उसे चिन्मय कहते हैं ।

आत्मा सदा सर्वदा है जो सत्य है, उसे हम छोड़ देते हैं तथा जो असत्य देहादिक संसार है उसे हम पकड़ना चाहते हैं । जो आता–जाता है वह असत्य है । मैं सदा एकरस अचल एवं सत्यात्मा हूँ । जब तक यह सत्य नहीं समझेंगे हम दुःखी–सुखी होते रहेंगे ।

एक बार जब मन ब्रह्मभाव में दृढ़ हो जाता है तब उसकी मन संज्ञा समाप्त हो जाती है । फिर ऐसा नहीं कहा जा सकेगा कि मन ब्रह्माकार है । ऐसा कहना तो अज्ञान होगा । जैसे नदी सागर में लीन होकर कहे कि अब मैं गंगा सागर हो गई हूँ । फिर गंगा नदी संज्ञा नहीं रहता । इसी

प्रकार मन जब आत्मा में लीन हो गया तब वह ब्रह्म ही हो गया '**ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति**' ।

सत्य आत्मा का संग हो जाना, सत्यात्मा के साथ एकत्व हो जाना, सोऽहम् भाव जाग जाना अर्थात् मैं द्रष्टा, साक्षी आत्मा हूँ, इस वृत्ति का मन में देह भाव की तरह उदय हो जाने का नाम सत्संग है । सत् संग हो जाना ही मावन जीवन का चरम लक्ष्य है । फिर कुछ पाना, जानना, करना देखना बाकी नहीं रहता है । समस्त चाह, वासना, इच्छा, कामना समाप्त हो जाती है । अपने में पूर्णता के भाव से आत्म तृप्ति हो जाती है । फिर समता भाव जाग्रत हो जाता है ।

लोग कहते हैं हम नियमित सत्संग में जाते हैं, पर वे सत्संग करते हैं ऐसा उनके आचरण में, जीवन में दिखाई तो नहीं पड़ता है । क्योंकि वे अपने मन में राग–द्वेष भी बनाये रखते हैं । तब उन्होंने सत्संग किया ही नहीं, सत्संग सुना ही नहीं, सत्संग को समझा ही नहीं, सत्संग को पकड़ा ही नहीं । भला कोई हिमालय जाय व उसे शीतलता का स्पर्श न हो ऐसा कभी हो सकेगा ?

सत्संग में जाकर अखण्ड, अद्वय, आत्मा को सर्वरूप समझना ही आपके द्वारा सत्संग किया हुआ जानना चाहिये । यदि आपके जीवन में, भावों में, व्यवहार में, राग–द्वेष में, फर्क नहीं पड़ा, गिरावट नहीं आई तो फिर आपने सत्संग किया ही नहीं । केवल समय बर्बाद किया है । आप सत्संग करे व समता न आवे राग–द्वेष न हटे, एकत्व भाव, प्रेम भाव न जगे ऐसा कभी नहीं हो सकता ।

साधक को प्रथम से ही यह सत्य को स्वीकार करलेना चाहिये कि मैं शरीर नहीं हूँ, मेरा शरीर नहीं है, मेरे लिये शरीर नहीं है, मैं परा प्रकृति चेतन आत्मा ईश्वर अंश हूँ । इसलिये मैं ईश्वर का हूँ, ईश्वर मेरे है । यही भक्तियोग हो गया । शरीर संसार का है, शरीर संसार के लिये है । इसलिये शरीर के द्वारा संसार की सेवा करना चाहिये । जो सेवा नहीं करते हैं वे मनुष्यता से गिरकर पशुता में चले जाते हैं । क्योंकि पशु स्वयं किसी की सेवा नहीं कर पाते हैं। हम हाथी, घोड़ा, गाय, बैल, भैंस, कुत्ता

आदि पशुओं से सेवा करा लेते हैं अपनी सेवा में लगा लेते हैं ।

मनुष्य को चाहिये कि वह संसार से प्राप्त की वस्तु को चाहे वह तन, मन, धन को लोक कल्याण के लिये लोगों की सेवा में लगावे । कर्मकर बदले में उन से कुछ न चाहे यही **'योगःकर्मसु कौशलम्'** यही उत्तम **कर्म योग** है । गीता : २/५०

मैं द्रष्टा, साक्षी आत्मा हूँ । मेरे अतिरिक्त यहाँ किञ्चित् भी अन्य नहीं है । इस भाव में जीव का स्थित हो जाना ही **'समत्वं योग उच्यते'** यह **ज्ञान योग** हो गया । गीता : २/४८

यह मानव जीवन त्रिवेणी संगम है । इसमें कर्म योग, भक्ति योग तथा ज्ञान योग की त्रिपुटी है । बिना त्रिपुटी के कोई इन्द्रिय विषय प्राप्त नहीं होते हैं। इसी प्रकार बिना कर्म, भक्ति, ज्ञान की त्रिपुटी के, मानव जीवन सफल नहीं होता है।

तप का अर्थ अहंकार का नाश । फिर जो शेष रहता है, वह आत्म साक्षात्कार यही महान् तप है, यही महान् सिद्धि है ।

जन्म दिन पर खुशी मनाना महान् मूर्खता है । उस दिन तो हमें पश्चाताप करना चाहिये कि जिस काम के लिये मैंने यहाँ जो देव दुर्लभ मानव जन्म परमात्मा की असीम कृपा से पाया है, वह अपने कल्याण का कर्म अर्थात् स्वरूप का साक्षात्कार अभी तक नहीं किया, अपने आपको नहीं जाना कि 'मैं कौन हूँ ?' । अतः मुझे धिक्कार है । अभी तक मेरे जीवन के अमूल्य वर्ष पशु की तरह नष्ट होगये । अब इस वर्ष में परमात्मा की अनुभूति अवश्य करूँगा ।

जिस दिन हमें अपने आत्मस्वरूप का बोध होता है वही हमारा सच्चा जन्म दिन है । देह भाव का त्याग ही सच्ची मृत्यु अथवा संन्यास है, यहाँ जन्म एवं मृत्यु दोनों घटनाएँ एक ही साथ एक ही क्षण में होती है आगे पीछे नहीं । प्रतिक्षण परिवर्तन चल रहा है । जन्म से श्वाँस-प्रश्वाँस में चलरहे सोऽहम् चिन्तन द्वारा देह भाव का नाश व आत्मभाव का उदय एक साथ हो जाता है ।

जब परमात्मा ही सबका कर्ता है यह बोध जाग्रत हो जाता है, तब मैं कर्ता हूँ यह अभिमान समाप्त हो जाता है ।

जो आत्म विचार में टिकने में समर्थ नहीं है, उन मन्द बुद्धि वालों की बुद्धि में परिपक्वता लाने के लिये पाठ, पूजा, मंत्र, जप, प्राणायाम आदि धार्मिक, योगिक और आध्यात्मिक क्रियाएँ बताई जाती है । इन क्रियाओं को करने से अपरिपक्व मन परिपक्व होकर आत्म विचार करने में समर्थ हो जाता है एवं निदिध्यासन द्वारा आत्म बोध प्राप्त करलेता है ।

जो सदैव है उसे प्राप्त करने के लिये किसी प्रकार के साधन करने की जरूरत नहीं है । अनित्य पदार्थों में अहं बुद्धि होने से बचाये रखने के लिये ही प्रयत्न करना आवश्यक है ।

यदि आत्म दर्शन हो गया तो फिर जगत् नहीं दिखाई देगा । यदि जगत् दिखाई पड़ता है, जगत् के लिये सत्य बुद्धि एवं सुख बुद्धि है तो फिर आत्म साक्षात्कार नहीं हुआ कहा जावेगा।

आनन्द ऐसी वस्तु है जो सदैव है, क्योंकि ब्रह्म आनन्द स्वरूप है **'आनन्दो ब्रह्मैति विजानीयात'** । आनन्द कम–ज्यादा, आता–जाता, भाव–अभाव रूप नहीं होता है । जो आता–जाता, कम–ज्यादा होता है, वह सुख मन की रचना है । उसकी आप चिन्ता न करे । आप जानते हैं कि मन को आनन्द आया तब आप अवश्य हैं अन्यथा यह आनन्द का भान कैसे होता और आनन्द जब नहीं आता तब भी आप है तब दोनों स्थिति में आप हैं । यही आत्मा नित्य आनन्द घन है । यह मन ही विषयों के माध्यम से आनन्दमय होता है । जैसे गुड़, चीनी, शकर, मिश्री रस घन है, आत्मा के आनन्द घन की तरह एवं गुलाबजामुन, रसगुल्ला, जलेबी, रसमलाई, आईस्क्रीम, श्रीखण्ड, खीर, हलवा आदि चीनी के माध्यम से रस मय होते हैं । इसी तरह यह मन भी शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन विषयों के माध्यम से मिठाईयों की तरह आनन्दमय, सुखमय होता है ।

# शक्तिमान बिना शक्ति कहाँ ?

शक्तिमान के बिना शक्ति की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है । जैसे मिट्टी कारण के बिना घट, मठ कार्य की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है । कारण ही कार्य रूप में द्रष्टिगोचर होता है । स्वर्ण ही अलंकार रूप में उपयोग में आ रहा है ।

**भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।**
**अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टाधा ।।** ७/४ गीता

**अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।**
**जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ।।** ७/५ गीता

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार यह अष्ट भेद वाली परमात्मा की अपरा प्रकृति है । तथा देह में जीव आत्मा की 'परा' प्रकृति है ।

अपरा व परा दोनों परमात्मा की शक्तियाँ या प्रकृतियाँ है । भगवान् की शक्ति होने से ये अपरा व परा भगवान् से अभिन्न है । जैसे मनुष्य शरीर का वजन या शक्ति मनुष्य से अभिन्न है इसे कोई भी शक्तिशाली, बहादुर अपने से निकालकर पृथक् नहीं बता सकता ।

जगत् में जितने भी पदार्थ एवं शरीर हैं वे सब परमात्मा की **'अपरा'** शक्ति के अन्तर्गत हैं एवं जितने भी जीव हैं वे सब परमात्मा की **'परा'** शक्ति के अन्तर्गत हैं । इस प्रकार अनन्त ब्रह्माण्डों में पंच महाभूत तथा मन, बुद्धि, अहंकार यह अष्ट प्रकार की अपरा प्रकृति है एवं जीव एक परा प्रकृति है । तथा एक परमात्मा इन दस के अलावा कुछ भी अन्य नहीं

है । जब अपरा व परा दोनों प्रकृति परमात्मा की है तो यहाँ मैं–तू भेद करना अज्ञान ही है ।

स्थूल, सूक्ष्म शरीर की इन्द्रियाँ, प्राण, मन, बुद्धि यह सब **'अपरा'** प्रकृति का अंग है और अन्तःकरण में चैतन्यात्मा का प्रतिविम्ब जीव **'परा'** प्रकृति है । परा–अपरा दोनों प्रकृतियाँ जब भगवान् की ही है तो फिर यहाँ केवल एकमात्र भगवान् के सिवा अन्य कुछ नहीं है । 'सर्वम्' भी नहीं बल्कि एकम् ब्रह्म ही सत्य है ।

**'अहं भोजनं नैव भोज्यं न भोक्ता । चिदानन्द रूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम् ।**

जो कुछ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष वस्तु है वह सर्व शक्तिवान् परमात्मा ही है । वे परमात्मा ही त्रिपुटी रूप होकर भोजन क्रिया एवं भोक्ता रूप वे ही अन्न बनते हैं तथा वे ही अन्न खानेवाले हैं ।

**अहं हि सर्व यज्ञानां भोक्ता च प्रभूरेव च ।**
**न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ।।** ९/२४ गीता

अर्थात् सम्पूर्ण यज्ञों का भोक्ता और स्वामी भी मैं हूँ परन्तु ये अज्ञानी मूढ़ लोक मुझ परमेश्वर को आत्मा रूप से अपने देह मन्दिर में नहीं जानते हैं । इसी भेद बुद्धि से वे बारम्बार चौरासी लाख योनियों में चढ़ते–गिरते रहते हैं । अर्थात् वे बारम्बार जन्म–मृत्यु रूप विनाशी देह को प्राप्त करते हैं ।

**नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।**
**मूढ़ोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ।।** गीता : ७/२५

मैं अपनी प्रकृति अर्थात् मुरली, धनुष, त्रिशूलादि योगमाया के परदे में छुपा हुआ सब के प्रत्यक्ष नहीं होता हूँ । इसलिये यह अज्ञानी जन समुदाय मुझ अजन्मा अविनाशी परमात्मा को नहीं जानते हैं और जन्माष्टमी, राधाष्टमी, राम नवमी, शिवरात्री रूप में जन्मने–मरने वाला समझते हैं।

बुद्धिहीन पुरुष मेरे सर्वोत्तम अविनाशी परमभाव को न जानते हुए मन–बुद्धि इन्द्रियों से परे **'सर्व धी साक्षी'** द्रष्टा, साक्षी, आत्म तत्त्व को,

सच्चिदानन्द घन परमात्मा रूप नहीं जानते हैं और मनुष्य की तरह जन्मने मरने वाला व्यक्तिभाव से मानते हैं। जबकि मैं शक्ति स्वरूप निराकार तत्त्व हूँ । पवन, गन्ध, स्वाद, बिजली, चुम्बकीय शक्ति की तरह ।

जब तक परमात्मा के सिवाय अन्य कुछ भी सत्ता मानने में आती रहेगी तब तक उस साधक या सिद्ध की परमात्मा के साथ दूरी बनी रहेगी, भिन्नता बनी रहेगी । एक परमात्मा के सिवा अन्य कुछ नहीं है। इस वास्तविकता का अनुभव होने पर साधक की परमात्मा के साथ दूरी, भिन्नता और भेद भाव मिटजाते हैं और साधक अपने वर्तमान जीवन में जीवित अवस्था में अपने साध्य परमात्मा में ऐसा लीन हो जाता है जैसे नदी अपने नाम, रूप, आकार का अहंकार छोड़ सागर में मिल एक हो जाती है ।

# अस्ति, भाति, प्रिय

**अस्ति भाति प्रियं नाम चेत्यंशपञ्चकम् ।।२३।।**
**आद्यत्रयं ब्रह्म रूपं जगद्रुपं ततो द्वयम् ।।२४।।** सरस्वती उप.

संसार के प्रत्येक पदार्थ में पांच अंश पाये जाते है । उन में प्रथम अस्ति भाति प्रिय तो ब्रह्मांश है । शेष नाम, रूप माया के अंश होने से कल्पित है । अस्ति=है, भाति = भासता है, प्रिय=उपयोगी है ।

जैसे घड़ा है, घड़ा भासित होता है, घड़ा प्रिय है, जैसे घर है, घर भासता है, घर प्रिय है । इन में घट या घर यह नाम या उसका आकार, यह दो अंश माया के है। अब इन में है, भासता है, प्रिय है, यह तीन अंश सच्चिदानन्द व्यापक ब्रह्म के हैं । सत का विवर्त अस्ति, चित का विवर्त भाति तथा आनन्द का विवर्त प्रिय होता है । इस प्रकार यह सर्व नाम, रूप जगत् में अस्ति, भाति, प्रिय रूप में एक सच्चिदानन्द ब्रह्म मैं ही विद्यमान हूँ । यदि मैं आत्मा सत्य न होता तो 'जगत् है' यह अस्ति पना कौन सिद्ध करता ? यदि मैं चित स्वरूप न होता तो यह जगत् किसे दिखाई पड़ता और मैं आनन्द स्वरूप न होता तो यह जगत् पदार्थ में प्रिय पना किसे लगता ? इस प्रकार मुझ सच्चिदानंद का विवर्त ही यह अस्ति, भाति, प्रिय दृश्य जगत् हैं ।

जो 'है' है, वह सर्वव्यापक है, सर्व भौतिक है । जैसे यह पुस्तक 'है', यह टी.वी. है, यह जूता है, यह मकान है, यह गाय है, यह कुत्ता है । इन सब पदार्थों को 'है' रूप से, अस्ति रूप से बताने वाला कोई चेतन पुरुष की बुद्धि है, जिसके कारण जो पदार्थ है वह यह रूप में देखे जाते हैं,

उसका नाम 'भाति' पना है तथा मैं देखता हूँ, मैं जानता हूँ, मैं सुनता हूँ, इस प्रकार उपयोगी होने से वे सब पदार्थ प्रिय रूप है । इन तीनों को ही सत, चित, आनन्द भी कहते हैं ।

तुम्हें परदे पर एक चित्र दिखाया जाता है वह परदा 'अस्ति' है और जो प्रकाश उस चित्र को दिखाता है, वह भाति है और नाम आकार जो देखने में अच्छे लगते हैं वह 'प्रिय' है । उन चित्रों को देख अज्ञानी मोहित होता है पर वह परदा वैसा ही रहता है । इसी तरह जगत् के नाम, रूप आकार आत्मा अधिष्ठान परदे पर दिखाई पड़ते हैं किन्तु आत्मा ज्यों का त्यों परदे की तरह असंग रहता है ।

हम उसी में हैं जिसे हम ढूंढ रहे हैं । जैसे मोटर में, रेल में बैठने वाला व्यक्ति, अन्य लोगों से रेल मोटर का पता पूछने लगे कि रेल, मोटर, देखने, बैठने को कहाँ मिलेगी, मैं कहाँ खोजू ? जैसे मृग कस्तूरी को नाभि में रखे हुए भी कस्तूरी को खोजता रहता है । जैसे मछली जल में जीवन व्यतीत करती है फिर भी मछली पूछती है जल की खोज कहाँ करूँ, मुझे जल कहाँ मिलेगा ? यदि ऐसा पूछे तो उसका यह अज्ञान ही कहलावेगा । इसी प्रकार जीव ब्रह्म में रहकर भी ब्रह्म को खोजता, पूछता फिरता है कि ब्रह्म कब, कहाँ व मुझे कैसे मिल सकेगा ? यह जीव का महान अज्ञान ही कहलावेगा ।

जो सबके पहले विद्यमान है जिसके पहले कोई नहीं है, वह मैं आत्मा हूँ । अन्धकार में क्या मैं हूँ या नहीं इसकी जानकारी किसी से पूछकर होती है या प्रकाश के प्रकट होने पर होगी ? एक छोटा बच्चा भी घोर अन्धकार में कहता है मैं इधर हूँ, यहाँ हूँ । मैं भी अन्धकार में देखता हूँ कि मैं खड़ा हूँ या बैठा हूँ । इन भाव क्रियाओं में सबसे पहले सत्ता रूप से आत्मा है । मैं के बिना क्या किसी प्रकार का काम हो सकता है ? कभी नहीं कुछ भी नहीं हो सकेगा ।

इस बात का हमेशा स्मरण रहना चाहिये कि आप इस सत्संग में अपने जीवन के चरम लक्ष को प्राप्त करने हेतु जुड़े हैं । क्या अपने

अहंकार को जीवित रखने के लिये यह दूसरा रास्ता, संसारी सेवा से मुक्त (रिटायर्ड) होने के बाद चुना है ? आश्रम में सत्संग छोड़ नाना गरम-गरम भोजन, मिष्ठान, बनाने खूब खाने खिलाने हेतु नहीं । न सच्चा सद्‌गुरु तुम्हारे इन क्रियाओं द्वारा सन्तुष्ट होने वाला हैं।

केवल वृक्ष के नीचे रहने वाला, हाथ में ही भोजन खानेवाला तथा लिगोंट धारण करने वाला, संग्रह से रहित अमानी, अदम्भी साधक ही सच्चा भाग्यशाली साधु है । यदि उसे आपने त्याग का अहंकार है तो उसे पाखण्डी ही जानना चाहिये । आसक्ति तथा दम्भ से रहित राजा जनक को एक महान् त्यागी संन्यासी ही जानना चाहिये ।

मृत्यु का अर्थ है अहंकार का समाप्त होना और जन्म का अर्थ है अहंकार का प्रकट होना । जन्म-मरण दोनों अहंकार, देहाभिमान से ही उत्पन्न होते हैं । तुम्हारा अस्तित्व सदैव रहता है । अहंकार का मूल तुम स्वयं आत्मा हो। अहंकार का जड़ से नाश ही मुक्ति है ।

तुम आत्मा की खोज क्यों कर रहे हो ? तुम स्वयं आत्मा ही हो । न आत्मा से तुम दूर हो, न तुम से आत्मा दूर है । तुम स्वयं आत्मा ही हो । तुम अपने को अर्थात् परमात्मा को ढूंढने का व्यर्थ श्रम क्यों करते हो ?

आत्मा हृदय में है ऐसा कहना तो आत्मा को परिच्छिन्न एकदेशीय, जड़, नाशवान बताना हुआ । हृदय का मतलब आत्मा ही है । जैसे अलंकार में स्वर्ण नहीं रहता बल्कि नाम, रूप से रहित अलंकार स्वर्ण ही है । इस प्रकार हृदय में परमात्मा नहीं रहता है बल्कि हृदय दर्पण में वह झलकता है ।

यह परोपकार का काम मुझे करना चाहिये इनमें करूणा एवं सहानुभूति की भावना है । परन्तु इस प्रकार के कर्म भविष्य में ऋणानुबन्ध बन जाता है । अकर्ता भाव से किये कर्म बन्धन रूप नहीं होते हैं । कर्ता भाव से किये अच्छे या बुरे कर्म एक नहीं अनेक जन्म के लिये बन्धन देते हैं ।

भविष्य के ऋणानुबन्धन से पुनर्जन्म होता है यह बात वामदेव, जड़भरत के जीवन से स्पष्ट प्रमाणित होती है । इसलिये वामदेव को एक जन्म एवं जड़ भरत को दो जन्म लेना पड़े थे । अतः साधक को भविष्य में जन्म दिलाने वाले बन्धनों से सावधान रहना चाहिये।

**एक मोह के कारणे भरत धरी दो देह ।**
**वे नर कैसे बचि है, जिनके बहुत स्नेह ।।**

ज्ञानी व्यक्ति अपने को आत्मा रूप जान लेने पर उसे हर स्थान पर वृन्दावन, हरिद्वार, अयोध्या दिखाई पड़ता है । किन्तु ज्ञानी अज्ञानीयों को अपने आत्मतीर्थ को छोड़ बाहर तीर्थ में भटकने की आज्ञा नहीं देता है।

**तीर्थ दाने जपे यज्ञे काष्ठे पाषाण के सदा ।**
**शिवं पश्यति मूढात्मा शिवे देहे प्रतिष्ठिते ।।** ४/५७ : जाबाल द. उप.

आत्म साक्षात्कार, अपरोक्षानुभूति नित्य है, उसमें यदि बाधा है तो मिथ्या अनात्म देहाध्यास की ही केवल है । इस बाधा को हटाने के लिये हमें बारम्बार वेदान्त महावाक्यों का श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन करना चाहिये । आज ही अति शिघ्र अपने आत्म स्वरूप को मैं रूप से, अपरोक्ष बोध करलेना चाहिये । देह के अन्तिम श्वाँस का कोई भरेसा नहीं कि कब भण्डार समाप्त हो जावे । इसलिये प्रत्येक श्वाँस को अन्तिम जान अपना कल्याण कार्य में तत्काल लग जावें ।

ज्ञानी की आँखें मरे हुए बकरे की तरह है । उसकी आँखें खुली तो होती है पर उनसे कुछ संसार दिखाई नहीं देता है। इसी तरह ज्ञानी सब कुछ देख कर भी एक ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं देखता । कान होने पर भी वह एक ब्रह्म चर्चा के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं सुनता है । वाणी होकर भी वह ज्ञानी ब्रह्मचर्चा के अतिरिक्त कुछ भी संसार की बाते नहीं करता है। हाथ होकर भी किसी देवी-देवता की पूजा नहीं करता है । पैर होकर भी वह किसी तीर्थ, मन्दिर, देव दर्शन के लिये यात्रा पर नहीं जाता है। इसलिये ज्ञानी को अन्धा, बहरा, मूक, अपंग, लूला, नपुन्सक

कहते हैं । ज्ञानी ऊपर से संसार में आसक्त दिखाई देता है किन्तु उसका मन किसी में आसक्त नहीं होता है। ज्ञानी के कर्म निर्बीज होते हैं इसलिये उसका पुनर्जन्म नहीं होने से वह नंपुसक कहलाता है ।

जो व्यक्ति स्वाभाविक आत्म ध्यान का अभ्यास बनालेता है और जिसे सहज समाधि सुख का अनुभव मिलता रहता है । वह बाहरी तौर पर कुछ भी काम करता रहे और कुछ भी विचार या व्यवहार करते रहने पर भी वह अपना समाधि सुख नहीं खोएगा । यही है सहज निर्विकल्प समाधि ।

जो सत्ता जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीन अवस्था से परे और अचल है, वह तुरीय आत्मा तुम हो इसे ही चौथी तुरीय अवस्था कहते हैं। सच पूछा जाय तो एक ही आत्मा तुम हो । तुम्हारे अतिरिक्त न जाग्रत है, न स्वप्न है, न सुषुप्ति है, न तुरीय है । प्रत्युत् तुम ही जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय हो ।

सूर्य का प्रतिविम्ब दर्पण में, नदी में, कुआँ में, तालाब में दिखाई पड़ने से सूर्य यह नहीं मानता कि मैं नदी, तालाब, झील, कुआँ हूँ । इसी तरह आत्मा का प्रतिविम्ब भी जड़, चेतन पर पड़ता है किन्तु आत्मा अपने को ऐसा नहीं मानता हैं कि मैं इतना ही सीमित हूँ । आत्मा अपने को तीन अवस्था का साक्षी, प्रकाशक जानता है । समस्त समस्याएँ तब होती है जब जीव यह समझने लगता है कि मैं शरीर हूँ । अपना–पराया, राग–द्वेष, चिन्ता, भय, दुःख शुरु होती है तभी। यदि यह सीमित अनात्म देहाध्यास का परित्याग कर दिया जाय तो फिर यह जीव अपने को सूर्य की तरह सर्वत्र व्यापक अनुभव कर सकेगा ।

मुक्ति तुम्हारा स्वरूप है केवल तुम्हें उस वस्तु के साथ तादात्म्य तोड़ना है जो अनात्मा है । केवल तुम्हें उन वस्तुओं से छुटकारा प्राप्त करना है जो बाहर से तुम पर हावी हो गई हैं ।

'तू ब्रह्म है' ऐसा उपदेश अनाधिकारी को नहीं सुनाना चाहिये अन्यथा वह चित्तशुद्धि का साधन कर्म, उपासना का सेवन भी नहीं करेगा एवं

दुष्कर्म कर नरक में पहुँच जायगा।

स्वप्न में व्यक्ति नाना प्रकार के कष्ट पाता है बहुत लम्बी यात्रा करता हुआ थक जाता है किन्तु नींद टूटने पर वह अपने को थकावट रहित जहाँ का तहाँ पाता है । इसी तरह आत्मज्ञान होने पर जीव को यह पता चलता है कि मैं चौरासी लाख योनियों में कहीं गया ही नहीं, मैं अपने अचल आत्म स्वरूप से सदैव समाधिस्थ ही था ।

सभी साधन आत्म विचार होने पर समाप्त हो जाते हैं । जैसे नदी की यात्रा सागर में जाकर समाप्त हो जाती हैं । ज्ञानी को किसी कर्म में कर्तापन का भाव नहीं रहता इसलिये उसे कर्म बन्धन रूप नहीं होता है । कृष्ण कहते हैं कि ज्ञान यज्ञ सब यज्ञ में श्रेष्ठ है वहाँ सभी कर्म, उपासना समाप्त हो जाती है ।

जन्म में तुम थे, बचपन में तुम थे, किशोर अवस्था में तुम थे, यूवा अवस्था में तुम थे, प्रौढ़ अवस्था में तुम थे, वृद्धावस्था के समय तुम हो। देह अवस्थाएं मनोवृत्तियाँ बदलती है किन्तु तुम आत्मा बचपन से अभी तक ज्यों के त्यों एकरस रहते हो ।

**जाग्रत्स्वप्न सुषुप्त्यादि प्रपंचं यत्प्रकाशते ।**
**तत्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्व बन्धैः प्रमुच्यते ।।**

१७. कैवल्य उप.

लोग गृहस्थी के सभी काम करते हुए अपना आत्म विचार कर सकते हैं । आत्मबोध करने की क्षमता सभी मनुष्य रखते हैं । जनक वशिष्ठ, राम, कृष्ण, कबीर, मीरा, रैदास सदन आदि सभी इस बात का प्रमाण है । कुछ लोग वैराग्य प्रधान प्रारब्ध के कारण एकान्त में वास करते हैं, जैसे वामदेव, जड़ भरत, त्यागी, संन्यासी इत्यादि ।

जब आप कहते हैं मैं जाग रहा था, मैंने स्वप्न देखा, मैंने गहरी नींद का अनुभव किया । इससे स्पष्ट होता है कि तुम इन तीनों अवस्था में विद्यमान थे । यही तुम्हारे नित्य, सत्य होने का प्रमाण है । तुम समस्त अवस्थाओं एवं क्रियाओं के साक्षी मात्र हो। कार्य तो होंगे देह, इन्द्रिय

प्राण, मन, बुद्धि के द्वारा किन्तु तुम उन दूसरों के कर्मों में मैं कर्ता हूँ ऐसा मिथ्या अभिमान मत करो । क्योंकि परधर्म को स्वधर्म मानने वाले जीव जन्म–मरण के बन्धन को प्राप्त होते हैं ।

**अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।** ३/२७ गीता

जिनका अपने शरीर परिवार से बाहर आत्मभाव का विकास नहीं हुआ वे मनुष्य पशु के समान है । ज्ञानी सब जीवों के प्रति आत्म भाव, मैं भाव, प्रेम भाव रखता है, वह सबमें अपने को ही देखता है ।

यदि तुम उस पर ध्यान दो जो तुम नहीं हो, तब उन समस्त दृश्य पदार्थ एवं भक्ति को अस्विकार करते हुए जो शेष रहता है, उस सर्वद्रष्टा साक्षी को पहचानलो, वही तुम हो उसे ही आत्मा जानों ।

जो है वह विद्यमान है, उसे ग्रहण करने का, प्राप्त करने का प्रश्न ही नहीं उठता है । जिसके बारे में संत शास्त्र चर्चा करते हैं, बात करते हैं, समझाते हैं वह मुझ आत्मा के लिये ही है । अज्ञानी जब मैं की बात करता है तब वह शरीर की बात करता है । ज्ञानी जब कहता है मैं जाता हूँ, मैं खाता हूँ, मैं चिन्तित हूँ तब भी वह अपने को इन सब क्रियाओं का साक्षी ही जानता रहता है ।

भगवान् जब शास्त्रों के माध्यम से कहते हैं कि मैं सब प्राणियों के हृदय में रहता हूँ, उस कथन का ऐसा तात्पर्य नहीं है कि वह परमात्मा कोई आकार लेकर हृदय में बैठे हैं । हनुमान के हृदय में जो रामके चित्र को दर्शाया है वास्तव में हृदय में ऐसे नाम, रूपधारी राम–सीता नहीं है । यह तो केवल मूढ़ लोगों को परमात्मा के प्रति श्रद्धा जाग्रत कराने के लिये प्रतीक मात्र हैं । अर्थात् जिस शक्ति द्वारा तुम्हारे सब काम हो रहे हैं, वह परमात्मा तुम्हारे भीतर निराकार शक्ति रूप से विद्यमान है । वे सब प्राणियों में अहम्–अहम् रूप में रहते हैं ।

मुमुक्षु को शास्त्रों का सारांश समझलेना चाहिये और शास्त्रों का पढ़ना छोड़ आत्मध्यान, आत्मचिन्तन निरन्तर करते रहना चाहिये । शास्त्रों को ही निरन्तर पढ़ते रहना आत्म चिन्तन नहीं है । इस शास्त्र वासना से मुक्त होना चाहिये । जैसे धान, गेहूँ की इच्छावाला खेत से

मानव जीवन उपयोगी ऊपर से धान, गेहूँ को काट नीचे का हिस्सा पशुओं के लिये छोड़ देता है ।

ध्यान के अभ्यासी साधको ! सावधान मन से सुनो एवं विचारों । तुम्हें चाहे किसी कल्पित भगवान् का दर्शन हो, कोई ज्योति दिखाई दे, कोई नाद, ध्वनि सुनाई दे पर इन्हें सुनने, देखने के लिये इनसे पृथक् पुरुष का होना जरूरी है जो इन्हें सुनता, देखता है । अब उसको खोजो जो इन्हें सुनता , देखता है कि वह कौन है ? तो पता लगेगा कि इस ज्योति को देखने वाला, नाद को, अजपा को सुनने वाला कोई अन्य नहीं बल्कि मैं स्वयं आत्मा हूँ । वह सदैव है । वह ज्योति दर्शन, नाद श्रवण तो कभी–कभी होता है । वह सत्य नहीं है । सत्य तुम हो पर अज्ञानी व्यक्ति चमत्कारों के आकर्षित हो उनमें फंसजाते हैं ।

अपने देहाभिमान का त्याग करके अपने आत्म भाव में रहना अर्थात् आत्म निष्ठा होना ही महामृत्युन्जय होना है । केवल प्रार्थना, पूजा,पाठ, तीर्थ, मन्दिर, जप, ध्यान करने से बिना आत्म ज्ञान के कोई मुक्त नहीं होता है । मंत्र, जप, यज्ञ होम जैसी वस्तुओं में ही नहीं फंसे रहना चाहिये । आत्म निष्ठा ही सर्वसाधनों से श्रेष्ठ है ।

**पाषाणलोहमणिमृण्मयविग्रहेषु पूजा पुनर्जननभोगकरी मुमुक्षोः**
**तस्माद्यतिः स्वहृदयार्चनमेव कुर्यात्बाह्यार्चनं परिहरेदपुनर्भवाय ।।**

मैत्रय उप. २/२६

पत्थर, लोह, मिट्टी, लकड़ी आदि धातु द्वारा बनाई मूर्तियों की पूजा द्वारा मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकेगी । जो स्वयं अनित्य है उनकी पूजा द्वारा नित्य वस्तु आत्मा की प्राप्ति नहीं हो सकेगी । अतः मोक्ष की इच्छा रखने वाले साधकों को कर्म, उपासना का त्याग कर आत्मज्ञान को ही प्राप्त करने हेतु किसी श्रोत्रिय–ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जाना चाहिये ।

**तीर्थ दाने जपे यज्ञे काष्ठे पाषाण के सदा ।**
**शिवं पश्यति मूढात्मा शिवे देहे प्रतिष्ठिते ।।** ४/५७ जाबालद.उप.

कल्याण स्वरूप परमात्मा इसी देह में विद्यमान हैं । मन्द बुद्धि पुरुष इस वेद वचन, ईश्वर वचन पर विश्वास नहीं कर केवल तीर्थ, दान, जप, यज्ञ, पाषाण या काष्ठ मूर्तियों की पूजा करते हैं ।

सूर्य प्रथम से था ही केवल बादल आ जाने से नेत्र व सूर्य का सम्बन्ध नहीं हो पाता है । बादल हटते ही सूर्य बिना साधन, श्रम, एवं समय के जहाँ भी दर्शक है वहीं से उसके शुद्ध नेत्र द्वारा दर्शन करलेता है । इसी तरह परमात्मा तो था ही केवल बुद्धि पर अज्ञान का परदा आजाने से यह जीवात्मा परमात्मा का साक्षात्कार नहीं करपाता है । सद्गुरु कृपा से जीव की बुद्धि से अज्ञान रूपी बादल हटते ही जीवात्मा परमात्मा का सोऽहम् रूप से साक्षात्कार करलेता है ।

हे साधकों ध्यान रहे ! परमधाम पहुँचने की यात्रा नहीं करना पड़ती । तुम सदा से परमधाम में ही हो । आत्मा में ही हो । जो नवीन है वह सत्य नहीं है । जो सनातन है वह सत्य है । कोई ऐसा क्षण नहीं जब तुम आत्मा विद्यमान न हो । देहाभिमान रूप मिथ्या ''मैं'' को त्यागो तथा परमसत्य शुद्ध ''मैं'' की अनुभूति करो । पूर्ण समर्पण का मतलब ही है कि हम अपने देहभाव का मन से पूर्ण लोप करदें । देहभाव से जुड़ना ही द्वैत, बन्धन एवं अज्ञान है । देह भाव से रहित होना ही अद्वैत आत्म भाव का प्रकट होना है । मोक्ष केवल स्वयं में स्थित आत्मा को जान लेना है ।

सभी लोग एक ईश्वर को ही सर्वत्र सर्व रूप में देख रहें हैं किन्तु वे यह परम सत्य को नहीं जानते हैं कि अलंकारों के रूप में केवल स्वर्ण का ही दर्शन हो रहा है । अलंकार स्वर्ण से कुछ अन्य नहीं है । इसी प्रकार जगत् रूप में एक मात्र जगदीश ही सर्वत्र उपस्थित है । जगत् जगदीश से भिन्न कुछ नहीं है । प्रत्येक वस्तु का बोध ज्ञान से ही होता है, जैसे प्रत्येक वस्तु का दर्शन सूर्य प्रकाश से ही होता है । प्रकाश ही वस्तु के आकार को धारण करता है । जहाँ प्रकाश नहीं पहुँचता है, वहाँ के पदार्थ को देखा नहीं जाता है । दर्शन में प्रकाश प्रथम है इसी प्रकार बोध में ज्ञान प्रथम है ।

आत्मज्ञानी आत्मा को उसी प्रकार सर्वत्र देखता है जैसे स्वर्णकार सब अलंकारों में केवल स्वर्ण का ही मुल्यांकन करता है ।

यदि तुम आत्मा का मैं रूप में साक्षात्कार करलेते हो तो तुम सब में अपने को ही देखोगे । यथार्थ में यहाँ एक आत्मा से भिन्न कुछ भी नहीं है । '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' ।

मैं आत्म साक्षात्कार नहीं कर रहा हूँ यह नकारात्मक विचार ही साक्षात्कार में बाधक है । मैं तो साक्षात् आत्मा ही हूँ इसलिये इसमें कोई कार–वार की जरूरत नहीं है । साक्षात्कार होने में किसी प्रवचन, मंत्र, प्राणायाम, ध्यान अथवा कुण्डलिनी जागरण की अपेक्षा नहीं प्रत्युत् सद्गुरु की कृपा ही आवश्यक है '**सद्गुरु कृपा केवलम्**' ।

# समर्पण

यदि तुमने ईश्वर में आत्म समर्पण पूर्ण रूपेण कर दिया है तब जीवन में कैसी भी भयानक कष्टप्रद घटना घट जावे तुम्हें उसमें ईश्वर इच्छा, ईश्वर कृपा समझ प्रसन्नता ही प्राप्त होगी, उस परिस्थिति में अपना निर्णय नहीं देंगे कि ऐसा नहीं होना था अथवा ऐसा करदो ।

परमात्मा तुम्हारे सुझाव देने के पूर्व से ही अनन्त जीवों की रक्षा कर रहा है । फिर उसके सम्मुख प्रार्थना करना उचित नहीं कि ऐसा करदो, ऐसा मत होने दो । इस प्रकार प्रार्थना करने का मतलब यही है कि ईश्वर को पता नहीं है कि उसे क्या करना चाहिये । वह अल्पज्ञ है इसीलिये उसके कर्तव्य हेतु तुम्हें बताना पड़ता है । जगत् का पालन करनेवाला क्या वह तुम्हें भूल सकेगा ? अतः उसके सम्मुख प्रार्थना के नाम पर शिकायत करना छोड़ दो कि ऐसा करदो, हमारा यह काम बनादो ।

मूर्ख लोग ऐसा भी कहते हैं प्रभु तेरी इच्छा पूर्ण हो तो क्या आपकी इस प्रकार की शुभेच्छा प्रकट न करने से उसकी इच्छा पूर्ण होने में किसी की रुकावट हो सकती है ? क्या परमात्मा की भी कोई इच्छा हो सकती है ? क्या परमात्मा में भी अपूर्णता हो सकती है ?

यदि तुम्हारी इतनी श्रद्धा है कि तेरी इच्छा पूर्ण हो तो फिर आपको प्रसन्नता पूर्वक हर परिस्थिति को प्रसाद रूप स्वीकार कर लेना चाहिये । उसके न्याय में, उसकी इच्छा में तुम्हें सन्तोष रखना चाहिये ।

सुषुप्ति में देह के साथ तुम्हारा किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं था, जाग्रत में भी तुम वही हो । अतः उसी सुषुप्ति अवस्थावत् असंग, निष्क्रिय रूप में क्यों नहीं रहते हो ?

तुम किसी देवी–देवता या व्यक्ति को स्वयं से भिन्न समझते हो तो यह पृथक् मानना अज्ञान है, वह ब्रह्म हत्यारा है तथा देह को मैं मानना आत्म हत्या है । अतः साधक को इन दो हत्याओं से दूर ही रहना चाहिये ।

जब तुम अपने को असमर्थ मानते हो तब अन्य की सहायता कैसे कर सकोगे ? ईश्वर से अपने या अन्य की रक्षार्थ मनोकामना पूर्ण करादेने हेतु प्रार्थना करते हो तो आप इस प्रकार कहकर ईश्वर को उसके कर्तव्यता का बोध करा रहे हो, ईश्वर को ना समझ एवं अपने को समझदार सिद्ध कर रहे हो । प्रार्थना में उसे याद दिला रहे हो कि मेरे घर में, जीवन में सुख सम्पत्ति से पूर्ण करदो।

'**सुख सम्पत्ति घर आवे, कष्ट मिटे तनका**' क्या ईश्वर को तुमने गर्भ से बाहर आने पर यह भी याद दिलाया था कि बाहर भेजतो रहे हो किन्तु सुनने को कान, देखने को आँख, चलने को पैर, कर्म करने को हाथ, बोलने को जिह्वा एवं सोचने समझने को मन, बुद्धि भी देना, कहीं भूल मत जाना । नहीं; ऐसा तो हमने नहीं कहा था फिर भी उसने तुम्हारे बिन मांगे ही तुम्हारे जीवन निर्वाह के लिये जो जो जरूरी था वह उसने पहले से निश्चित कर दे दिया व भविष्य के लिये लिख दिया है । उस प्रारब्ध से न कोई ज्यादा कर सकता है न कम कर सकता है । अतः उसके न्याय में सन्तोष रखो ।

# आत्म हत्यारा ही ब्रह्म हत्यारा है

देखा जाता है कि कोई साधक प्रथम बार किसी गुरु के पास जाता है तो उसके साथ वह गुरु पूछता है कि क्या तुम्हारे गुरुने तुम्हें आत्म साक्षात्कार, ब्रह्मानुभूति कराई है ? यदि वह साधक कह देता है कि मुझे ब्रह्मानुभूति नहीं हुई है तब वह गुरु उसका उपहास करते हैं और वह कहता है कि तुम्हारा गुरु पूरा गुरु नहीं है केवल शास्त्र को जानता है उसे ब्रह्मानुभूति नहीं हुई है ।

अब उपरोक्त उपहास करने वाले गुरु के अनुभव पर विचार करें तो मालुम पड़ता कि उन्होंने परमात्मा को दृश्य एवं परिच्छिन्न मान रखा है तथा उसे जड़, विकारी, मान रखा है । क्योंकि जो हमसे पृथक् दृश्य रूप होगा वह जड़, विकारी, विनाशी, परिच्छिन्न परोक्ष या प्रत्यक्ष होगा और जो दृश्य रूप होगा वह तो कभी ब्रह्म नहीं हो सकेगा।

यदि ब्रह्म का अनुभव कर लिया माना जावेगा तो क्या वह चेतन हो सकेगा ? जो भी अनुभव में आवेगा वह जड़ ही होगा। जैसे मिष्ठान्न, फल, सुगन्ध मिर्च, मसाला आदि की तरह ।

सूर्य क्या अपने तपन को जान सकेगा कि मैं कितना गर्म हूँ ? बर्फ क्या अपनी शीतलता को जान सकेगा ? चीनी क्या अपनी मधुरता को जान सकेगी कि मैं कितनी मीठी हूँ । सूर्य के सम्मुख अन्धकार हो तभी वह अपने से पृथक् अन्धकार को जान सकेगा लेकिन सूर्य के सम्मुख अन्धकार हो ही नहीं सकता । इसी तरह ब्रह्म से भिन्न कोई अन्य चेतन है ही नहीं तब ब्रह्म को कैसे कोई जान सकेगा ? सूर्य का स्वभाव प्रकाश, अग्नि का स्वभाव उष्ण, चीनी का स्वभाव मधुर है, वहाँ कुछ अनुभव

करने के लिये दूसरा नहीं । इसी प्रकार ब्रह्म का स्वभाव ज्ञानानन्द है वहाँ कोई अनुभव करने वाला दूसरा नहीं होता है । कौन किसका अनुभव करे जहाँ पूर्ण अद्वैत सत्ता है ।

सत से भिन्न असत् है, चेतन से भिन्न जड़ है, आनन्द से भिन्न दुःख है । अतः असत्–सत को, जड़–चेतन को एवं दुःख–आनन्द को कभी नहीं जान सकता । इसी तरह आत्मा से भिन्न अनात्मा अपने आत्म स्वरूप का कैसे साक्षात्कार कर सकेगी ?

नमक का टुकड़ा समुद्र की गहराई का पता लगाने जाता है तो वह तद्रुप ही हो जाता है, लौट बाहर आकर समुद्र की गहराई बताने के लिये नहीं बच पाता है । इसी तरह बर्फ अग्नि की तपन का पता लगाने जाता है तो वह भी तद्रुप हो जाता है फिर बाहर आकर अग्नि की तपन बताने को बर्फ नहीं रह पाता है । इसी प्रकार ब्रह्म को जानने के लिये जीव जब जाता है, तब वह तद्रुप ही हो जाता है फिर बाहर आकर ब्रह्मानुभूति कहने को शेष ही नहीं रहता है । यदि नदी, समुद्र का विस्तार जानने को समुद्र में प्रवेश करने जाती है तो वह तद्रुप ही हो जाती है । बाहर आकर समुद्र का अनुभव प्रकट करने को कुछ नहीं बचती है । इसीलिये वेद कहता है '**ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति**' '**जानत तुमहि तुमहि होई जाई**' ।

यदि कोई अपने को जानना चाहेगा तो उस अखण्ड सत्ता को दो भागों में बाँटना होगा जिसमें आधा भाग तो जानने वाला आप होंगे व दूसरा आप से भिन्न आधा भाग जाना जायगा । जिसे जाना जायगा वह जड़ अनात्मा दृश्य होने से नाशवान् होगा और उसे जनाने वाले आप फिर भी द्रष्टा ही रहेंगे । द्रष्टा ही ब्रह्म है, वही सत्, चित्, आनन्द है तथा दृश्य तो अब्रह्म, जड़, नाशवान् ही रहेगा ।

जिन्होंने अपने को जड़, देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि के साथ एकत्व करलिया है और अपने को ब्रह्म से भिन्न मानकर उसका अनुभव करने की इच्छा एवं प्रयत्न करता है। ऐसा प्रयत्न करने वाला ब्रह्म हत्यारा एवं अपने को देह मानने वाला आत्महत्यारा ही होता है ।

देहके अहम् को इदम् में लीन कर दो तब जो अहं व इदं का द्रष्टा शेष रहेगा, वह वास्तविक अहम् अर्थात् मैं आत्मा हूँ ।

तुम गाय नहीं, घोड़ा नहीं, गधा नहीं, कुत्ता नहीं तब तुम स्वयं इनसे भिन्न मनुष्य हो । इसी तरह मैं देह नहीं, प्राण नहीं, इन्द्रिय नहीं, मन, बुद्धि नहीं, तब आप इनसे भिन्न इन देह संघात् समस्त दृश्य को जानने वाले चेतन, स्वयं प्रकाश, द्रष्टा, साक्षी आत्मा स्वतः सिद्ध हो जाते हो ।

मैं अज्ञानी हूँ ऐसा जो कहता है वह अवश्य अज्ञान को जानने वाला अज्ञान का साक्षी है । मैं जानता हूँ कि मैं अज्ञानी हूँ, मैं कुछ नहीं जानता हूँ क्या ऐसा जानने वाला अज्ञानी हो सकता है या अज्ञान को जानने वाला ज्ञान स्वरूप आत्मा होगा ? ज्ञान स्वरूप आत्मा ही होगा । क्योंकि अज्ञान को अज्ञान नहीं जान सकता । जड़ को जानने वाला चैतन्य ही होगा ।

# कर्म का कर्ता कौन ?

(१) अधिष्ठान शरीर (२) जीव (३) इन्द्रियाँ (४) प्राण (५) ईश्वर ।

उपरोक्त यह पांचों मिलकर किसी भी काम को करते हैं। यदि गणित के हिसाब से १००% कर्म में २०% प्रतिशत कर्म पांचों में बट जाता है । यदि जीव भी अपने को कर्ता मानता हैं तो ८०% कर्म अन्य चार का व २०% कर्म जीव का होता है । अब जीव यह २०% कार्य का अहंकार उसी ८०% में जोड़्दे तो यह जीव का कर्म अकर्म हो गया, यह पूर्ण समर्पण हो गया ।

यदि व्यक्ति ट्रेन, बस, गाड़ी, जहाज से बैठ यात्रा करता है एवं कहता है कि मैं चलकर आया हूँ यह अकर्म में कर्म बुद्धि करना हुआ यही बन्धन का हेतु इसी को **'पर धर्मो भयावहः'** ३/३५ गीता कहा जाता है । अतः जो कुछ हो रहा है उसमें से अपना कर्ता पन हट जाय एवं जानते रहो मैं कुछ नहीं करता हूँ तब आप सच्चिदानन्द साक्षी ब्रह्म रह गये एवं कर्म प्रकृति की क्रिया हो गई ।

**अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च प्रथग्विधम्।**
**विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम् ।।**१८/१४ गीता

**प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।**
**अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।।** ३/२७ : गीता

**'नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं',**१४/१९

**गुणा गुणेषु वर्तन्त'**३/२८

**इन्द्रियाणिन्दियार्थेषु वर्तन्त'**५/९ गीता

एक 'है' सत्तामात्र के अतिरिक्त कुछ अन्य नहीं है । ऐसा जानने मात्र से जीव की तत्काल मुक्ति हो जाती है और वह 'है' अपना स्वरूप अर्थात् आत्मा तुम हो । किसी अन्य के सम्बन्ध में तो सन्देह हो सकता है कि 'वह है या नहीं' किन्तु मैं के सम्बन्ध में कभी किसी को सन्देह नहीं होता है कि 'मैं हूँ या नहीं '।

परमात्मा अखण्ड, सर्वव्यापक, सर्वाधिष्ठान होने से प्रत्येक जीव को उपलब्ध ही है वह जाने या न जाने, माने या माने, अनुभव करे या न करे । आत्म स्वरूप जो स्वयं ही है उसकी प्राप्ति हेतु किसी प्रकार के साधन करने की किंचित् भी आवश्यकता नहीं है । अतः साधक जो सत्य का खोजी है वह अब जहाँ का तहाँ ठहर जाय, चुप हो शान्त बैठ जाय ।

प्राप्त परमात्मा को पाने की इच्छा से यदि कोई साधक कर्म या साधना करता है तो वह बड़ी भूल कर रहा है । प्रत्युत् प्राप्त आत्मा स्वरूप में दूरी का भ्रम पैदा कर रहा है । अगर कुछ भी चिन्तन, साधन न करे तो साधक की परमात्मा में ही स्थिति रहेगी । यदि वह साधन करता है तो उस साधक की संसार में स्थिति रहेगी । वास्तव में हर जीव की स्वतः सिद्ध परमात्मा में स्थिति है किन्तु देह सम्बन्धी चिन्तन करने से हमें अपनी इस सहज सिद्ध स्थिति का भान नहीं हो पाता है । यहाँ एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है । अपने में बन्धन जानने पर भी हम स्वरूप से मुक्त ही हैं ।

अनादि से आज तक जितनी भी अच्छे-बूरे क्रियाएं हुई है वे सब प्रकृति में ही हुई है । स्वरूप तक एक भी क्रिया नहीं पहुँच पाई है । जीवन निर्वाह सम्बन्धी क्रिया हो अथवा परमार्थिक क्रिया हो यह सब प्रकृति में ही होती है । क्योंकि अकर्ता, अक्रिय, असंग, आत्मा का तथा प्रकृति का विभाग ही दिन-रात की तरह पृथक् है ।

जबतक अपने उद्धार के लिये किसी भी प्रकार का साधन किया जाता है उसमें कर्तापने का अहंकार ज्यों-का-त्यों रहता है । अहंकार

पूर्वक की गई कोई भी क्रिया कल्याणकारी नहीं होती है । क्योंकि कर्तापन के बिना किसी भी क्रिया की सिद्धि नहीं होती है । शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि सब प्रकृति का अंश है एवं स्वयं परमात्मा का अंश है । अतः स्वयं कभी शरीरस्थ हो नहीं सकता परन्तु अज्ञान के कारण यह अपने को शरीर में स्थित मानलेता है और परमात्मा को भिन्न मान विभिन्न प्रकार के कर्म, उपासना, कुण्डलिनी जागरण, ध्यान, समाधि आदि साधन करता रहता है । अतः अब ऐसा माने की मैं केवल निष्क्रिय ब्रह्मात्मा हूँ ।

जिससे हमारी दूरी नहीं है, जिसकी प्राप्ति 'मैं रूप' में ही होती है उसीकी प्राप्ति के लिये क्रिया नहीं केवल इच्छा करना ही पर्याप्त है । संसार की किसी भी वस्तु की प्राप्ति हेतु इच्छा, प्रयत्न तथा प्रारब्ध की जरूरत होती है । यदि प्रारब्ध में न हो तो प्रयत्न करने पर भी नहीं मिलती है । क्योंकि प्रयत्न व इच्छा तो सभी करते हैं किन्तु सभी को सफलता कहाँ प्राप्त होती है ।

परमात्मा के साथ हमारा नित्य सम्बन्ध है यह भाव जाग्रत होते ही, यह स्मृति जाग्रत होते ही साधक की परमात्मा के साथ आत्मियता या अभिन्नता का अनुभव हो जाता है । परमात्मा के साथ जीवात्मा की सर्वदा अभिन्नता होते हुए भी साधक को दूरी का भान इसलिये होता है कि वह शरीर, मन, बुद्धि के साथ अहंभाव कर परमात्मा को प्राप्त करना चाहता है । तभी उसे परमात्मा के प्रति दूरी का भाव लगता है ।

मिली हुई बिछुड़ने वाली वस्तुओं को अपना बनाना, अपना मानना भूल है । स्वयं चेतन वस्तु परमात्मा के साथ ही हमारा नित्य सम्बन्ध है इसलिये अनित्य, नाशवान्, जड़ वस्तु के साथ हमारा मैं पन तथा मेरा पन कभी नहीं हो सकता ।

जब संसार में कोई वस्तु मेरी है ही नहीं तब मैंने इसका, उसका त्याग किया यह कहना भी अपराध है । तब सेवा भी किसकी कौन करेगा ? जब एक परमात्मा के सिवा अन्य कोई भी नहीं है तब उसकी वस्तु उसीको लौटा देने में त्याग का अहंकार करना भी भूल है ।

**सोऽहमिति यावदस्थितिः सा निष्ठाभवति ।।**

दक्षिणामूर्त्य उप. २०

शरीर रहने पर्यन्त 'सोऽहं' मैं वही ब्रह्म हूँ यह धारणा बनाये रखना ही ब्रह्मनिष्ठा है ।

जो साधक जीव ईश्वर में एकत्व निश्चय से विचलित नहीं होता है वही मुक्त है । इसमें किंचित् भी सन्देह नहीं समझना चाहिये । जब देहाभिमान नष्ट हो जाता है तब उस ज्ञानी पुरुष की जहाँ भी दृष्टि जाती है, मन जहाँ भी जाता है वह एक अद्वितीय आनन्द ब्रह्म का ही अनुभव करता है ।

**देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि ।**<br>**यत्र यत्र मनोयाति तत्र तत्र परामृतम् ।।**

सरस्वती रहस्य उप. ६६

# आप केवल साक्षी

जन्म से लेकर आज तक जो कुछ भी हुआ है और आप जो कुछ हैं इसमें विचार करें की आपके द्वारा क्या–क्या प्रयत्न किया गया है । जिस देश, प्रान्त, नगर व घर में आपका शरीर उत्पन्न हुआ है उसमें आपका क्या प्रयत्न या स्वतन्त्रता थी ? कुछ नहीं । सुन्दर, असुन्दर, दुर्बल–मोटा, लम्बा–छोटा, जाति, भाषा, विकलांग–अन्धा, बेहरा, मूक हेतु आपने क्या प्रयत्न किया था ? यह सब हुआ है आपने किया नहीं, न आपसे उन सब में होने के लिये पूछा गया । इसी प्रकार देह में रक्त संचार, प्राण क्रिया, मल, मूत्र मांसादि बनना शरीर का विकास बच्चे से किशोर, जवान, प्रौढ़, बूढ़ा तथा मृत्यु हेतु आपसे न कोई प्रयास हुआ है और न आपसे पूछा गया है इन्हें आप रोक भी नहीं सकते । आप अकेले कुछ नहीं कर सकते आपके अलावा चार और है अधिष्ठान, कर्ता , प्राण, इन्द्रियाँ एवं भाग्य ।

अतः जब तक कर्म में कर्तापन का अभिमान बना रहेगा, जब तक कर्म का पूर्ण समर्पण ईश्वर में या प्रकृति में नहीं होगा तब तक आप सच्चे आत्मनिष्ठ नहीं हो सकते और तब तक आवागमन से मुक्त भी नहीं हो सकेंगे ।

**सभी खिलोना खांड के खांड खिलौना माहि ।**
**ऐसे सब जग ब्रह्म में, ब्रह्म जगत् के माहि ।।**

**कबीर कुआँ एक है, पनिहारी अनेक ।**
**छोटे बड़े मटके बने, पानी सबमें एक ।।**

मिठाईयों के नाम, रूप अनेक होने पर भी चीनी सबमें एक है । चीनी बिना सभी नीरस है, पर चीनी की कोई महिमा नहीं बताते हैं बल्कि नाम–रूप रसगुल्ला, गुलाबजामुन के प्रति भक्ति अर्थात् अपनी पसन्दगी बताते हैं । इसी तरह इस संसार के सभी पदार्थों में चीनी की तरह अस्ति, भाति, प्रिय ब्रह्म तत्त्व समाया हुआ है । सच्चिदानन्द ब्रह्म ही विद्यमान है उसके बिना नाम, रूप जगत् नहीं रह सकेगा । फिर भी मिठाईयों में चीनी की तरह इस दृश्य जगत् के सर्वाधिष्ठान परमात्मा को न देखते हुए मन्दिर, चित्र, मूर्ति, सूरज–चाँद, नदी, पर्वत को ही महत्व देते हैं । देह में परमात्मा को कोई महत्व नहीं देते हैं ।

**न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।**
**तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।।**

२।२।१० मुण्डक.उप.

यह सूर्य, चन्द्र, तारे, बिजली, अग्नि, नेत्र, मन, बुद्धि आदि सभी ज्योतियाँ मिलकर भी निज स्वरूप आत्मा को दर्शा नहीं सकती, क्योंकि यह सभी जड़ ज्योतियाँ है । परमात्मा ही केवल एक चेतन ज्योति है।

लोग चीनी पर दृष्टि न कर नाम, रूप मिठाई की ओर आकर्षित होते हैं । जिसकी दृष्टि चीनी पर पहुँच जाती है तब उसके लिये सब मिठाई समान है । जो भी ले जाओ स्वीकार है, क्योंकि मिठाईयों में चमत्कार तो आटा, बेसन, खोआ का नहीं बल्कि मधुरता तो चीनी की ही है ।

**जे सौ चन्दा उगहि सूरज उगे हजार ।**
**ऐते चांदना न हो दिया गुरु बिन घोर अन्धार ।**

कोई भी वस्तु बिना आधार अधिष्ठान या कारण के नहीं हो सकती । इसी प्रकार संसार का कोई भी दृश्य बिना सच्चिदानन्द ब्रह्म के और कुछ है ही नहीं । समस्त प्रपंच मुझ सच्चिदानन्द आत्मा में ही अध्यस्त है जैसे सभी अलंकार एक स्वर्ण में अध्यस्त है । समस्त अध्यस्त अलंकारों का अधिष्ठान तो एक स्वर्ण ही है ।

सृष्टि के पूर्व एक ही सत ब्रह्म था । इस प्रपंच की उत्पत्ति स्थिति तथा लय सभी उसी ब्रह्म में ही है, सर्वाधिष्ठान केवल ब्रह्म ही है । जैसे लहरों की उत्पत्ति, स्थिति, लय समुद्र में ही है । समुद्र के अतिरिक्त उनका कोई अस्तित्व नहीं है । इसी प्रकार यह नाम, रूप संसार सत्, चित्, आनन्द का विर्वत अस्ति, भाति, प्रिय है । जितने भी नाम, रूप हैं वे सब सत का विर्वत अस्ति है । जितने विचार, शब्द, भाषा है वह सब चित् का विर्वत भाति है तथा जितने भी भौतिक सुख है वह सब आनन्द का विवर्त प्रिय है ।

आनन्दघन हमारा स्वरूप है । यह स्वरूपानन्द बिना विषय की अपेक्षा सर्वदा रहता है, जैसे सुषुप्ति । हंसी, खुशी, मजा, सुख मस्ती सब आनन्दमय मन की अवस्थाएँ अनुकूलता में प्रकट होती है ।

जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाएँ बदल जाती है किन्तु तुरीय हमारी स्थिति है इस में कोई परिवर्तन नहीं होता । यही हमारा स्वरूप है यही परमधाम गन्तव्य स्थान एवं मन्जिल है । यह सर्वत्र, सर्वदा विद्यमान है । इसके बिना कोई देश, काल, वस्तु नहीं है ।

**ॐ ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।** १ : ईशा.उप

यहाँ एक सच्चिदानन्द ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ अन्य नहीं है तब यहाँ जो कुछ हो रहा है उसी में सब हो रहा है, जिससे यह सब है। उसी के द्वारा हो रहा है । इसलिये उस अखण्ड ब्रह्म का अंश रूप मैं भी सच्चिदानन्द ही हूँ । अतः न मेरा जन्म–मृत्यु है, न तीन अवस्था, पंचकोष, तीनगुण, तीन शरीर है । न मैं यह सब हूँ और न यह सब मेरे है, न मेरा बन्धन है, न मुझे मुक्ति की चाह है ।

जिसने अखण्ड आकाश का ज्ञान करलिया फिर उसके लिये घटाकाश, मठाकाश, महाकाश इन कल्पित उपाधियों का कोई महत्व नहीं है । इसी तरह जिस विवेकवान ने एक अखण्ड, सर्वव्यापक कारण ब्रह्म का ज्ञान कर लिया है । अब उसके लिये ग्रहण–त्याग करने जैसी कोई भिन्न वस्तु ही नहीं रहती ।

कृष्ण कहते हैं मैं ही ठगो में ठगीगिरि हूँ, मैं ही जुवाड़ियों में जूवां हूँ, मैं ही बुद्धिमानों में बुद्धि हूँ । मैं ही धर्मात्माओं में धर्म हूँ । भगवान् तो विभूति योग में बताते हैं कि भाव–अभाव, अच्छे–बुरे विचार, दुःख–सुख, अमृत–मृत्यु सभी मैं हूँ । १०/४,५ गीता । काम, क्रोध, लोभ, वृत्तियाँ भी परमात्मा की ही बनाई हुई है । जीव अज्ञानता से उनमें तादात्म्य कर बन्धन को प्राप्त होता है । अतः जब तक इस द्वन्द्व से ऊपर नहीं उठेंगे तब तक आध्यात्मिक सत्य की अनुभूति कभी नहीं हो सकेगी ।

साधक संसार के लाभ–हानि, मान–अपमान, सुख–दुःख, प्रशंसा–निन्दा से तटस्थ रहते हुए सब काम करे तो वह संसार से असंग हो जाता है । उसे परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है । अगर साधक तटस्थ न रहे, हर अवस्था में समभाव में न रहे तो फिर वह राग–द्वैष, हर्ष–शोक को प्राप्त हो बन्धन में पड़ जाता है । जीव अपने में बन्धन मानले तो भी स्वभाव से मुक्त ब्रह्म ही है ।

यह जीव स्वयं अनादि होने से और गुणों से रहित होने से अविनाशी परमात्म स्वरूप ही है । यह शरीर में रहते हुए भी न कुछ करता है न लिप्त होता है ।

जब तक साधक अपने लिये कुछ करने का भाव रखता है तब तक उसका सम्बन्ध देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि के साथ बना रहता है, तब तक उस जीव की पराधीनता बनी रहती है और इसके परिणाम स्वरूप उसका जन्म–मरण का चक्र भी चलता रहेगा ।

# जीवन में 'ही' को हटाकर 'भी' लावें

व्यावहारिक जीवन में 'ही' को हटाकर 'भी' को लाने से जीवन की ९५% समस्याएं व उनका अहंकार भी समाप्त हो जाता है । 'ही' में संकीर्णता, स्वामित्व भाव और अहंकार छुपा है । जैसे यह मेरी ही मोटर है, यह मेरी ही सम्पत्ति है । इस प्रकार के अहंकार में आप उसे बन्धन में डालते हैं उसकी स्वतन्त्रता को कैद करते हैं, उसके व्यक्तित्व की हत्या करते हैं, उसके प्रति अन्याय, कठोरता, क्रुरता का दुर्व्यवहार करते हैं । यदि यह कहें कि यह किसी की बेटी भी है, यह किसी की मां भी है, यह किसी की बहू भी है, यह किसी की सास भी है, यह किसी की मौसी भी है, यह किसी की साली भी है इसी प्रकार यह मेरी पत्नी 'भी' है ।

इसी तरह सम्पति में, मोटर में भी घर के सभी लोगों, नौकरों, पशु, पक्षियों का एवं सरकार का भी अधिकार है ।

यदि आप 'भी' को स्वीकार करेंगे तो उसके व्यक्तित्व को मान्यता देंगे तो उसकी स्वतन्त्रता की रक्षा करेंगे ।

जैसे परमात्मा मन्दिर में भी है, मस्जिद में भी है, गिरजाघर में भी है, गुरुद्वारे में भी है, वैश्यालय में भी है, मदिरालय में भी है, मूर्ति में भी है, चित्र में भी है **'हरि व्यापक सर्वत्र समाना'** इस प्रकार से आपने परमात्मा की अखण्डता को स्वीकार कर लिया । यदि आप ऐसा कहते हैं कि परमात्मा हृदय में 'ही' है, मूर्ति में 'ही' है, मन्दिर में 'ही' है, तीर्थ में 'ही' है, स्वर्ग, वैकुण्ठ में ही है तब आपने परमात्मा की सत्ता को एक देशीय, परिच्छिन्न, जड़ सीमित कर दिया । परमात्मा को किसी एक स्थान पर 'ही' है ऐसा कह कर उसे कैद नहीं किया जा सकता ।

आप बाजार से एक गणेश, राम, कृष्ण, शंकर, दुर्गा आदि किसी इष्ट की मूर्ति ५०,१००,२०० रूपये में खरीद ले आते हैं । वह मूर्तिकार मिट्टी पत्थर को तरासकर रूप देता है, आप उसे बनते हुए देखते भी है । जैसे अपना मकान को मिस्त्री द्वारा बनवाते हैं फिर उसी मकान की पूजा प्रणाम भी करते हैं । इसी तरह मूर्ति में भगवान् की भावना करते हैं कि यह भगवान् ही सृष्टि की उत्पत्ति, पालन एवं संहार कर्ता है । इस प्रकार आप के आँखों देखी कृत्रिम मूर्ति एवं भावना का संघर्ष चलता है । यह सत्य के विपरीत मनोयुद्ध है । इस प्रकार आप कल्पित मूर्त्ति की पूजा कर अपना अमूल्य जीवन मूढ़ता में नष्ट कर रहें हैं। ७/२५ गीता । अतः अपनी मूढ़ता को छोड़ निश्चय करें कि वह ब्रह्म मैं हूँ जिस शक्ति से भगवान् की मूर्ति, चित्र को गढ़ा या बनाया है ।

ध्यान का अर्थ आँख बन्द कर कल्पित ज्योति, रंग चक्र, ध्वनी, नाद पर द्रष्टि को केन्द्रित करना नहीं है । ध्यान का अर्थ है स्मरण, होशियारी, सजगता । जैसे ध्यान से मोटर चलाना, ध्यान से रेल में यात्रा करना, ध्यान से औषध लेते रहना, ध्यान से काम करना, ध्यान से रुपया गिनकर देना । ध्यान रखना भूलना नहीं । जब कोई जरूरी काम, किसी को निमन्त्रण देना, वस्तु लाना, भूल गया तो कहा जाता है कि यह बात तो मेरे ध्यान से ही उतर गई, इसका तो पढ़ने में ध्यान ही नहीं । इसका तो खलने में ध्यान लगा है । इस बात का तो मुझे ध्यान ही नहीं रहा । इस बात का तो मैंने ध्यान ही नहीं रखा । इत्यादि ध्यान का अर्थ वास्तव में सजगता होशियारी से ही है । आँख बन्द करने से नहीं है । किसी कल्पना को देखलेना ध्यान हीं है ।

यदि आप अपने को ब्रह्म नहीं मानते हैं तो कोई बात नहीं आप अपने को शरीर ही मानो । लेकिन शरीर का सम्बन्ध वायु से है बिना प्राण के शरीर एक मिनट भी जीवित नहीं रह सकता । २०० माईल तक ही वायु का विस्तार है और आपके स्थूल शरीर का एक अनिवार्य अंग पवन भी है अतः आपके शरीर का विस्तार यह ५-६ फिट ५५-६० के.जी. वजन वाला ही नहीं बल्कि २०० मील पृथ्वी से ऊपर तक है फिर

इस पवन का जीवन सूर्य किरण है तो आपका शरीर का सम्बन्ध १० करोड़ मील तक किरण के माध्यम से सूर्यतक फैला हुआ है । इस प्रकार आपका अस्तित्व आपका होना इतना ही नहीं बल्कि सूर्य किरणों तक ही विस्तार वाला नहीं है। प्रत्युत् सूर्य किरणे अनन्त आकाश में फैली होने से यह शरीर सम्पूर्ण आकाश से जुड़ा हुआ है और आकाश परमात्मा में जुड़ा है । इस प्रकार आपका अस्तित्व परमात्मा से भिन्न नहीं है । लय चिन्तन द्वारा आपका शरीर सूर्य, पवन, जल पृथ्वी का एक अंग है । इनके बिना आपका शरीर नहीं रह सकेगा ।

पंच भूतों के कार्य रूप शरीर अपने कारण पंच भूतों से पृथक् नहीं है, जैसे नगर के घरों का आकाश भिन्न–भिन्न नहीं रहता । पंच भूतों के टुकड़े करके यह शरीर का निर्माण नहीं हुआ बल्कि पंचभूत ही शरीर रूप में प्रकट हुआ है, जैसे स्वर्ण ही अलंकार रूप में प्रकट हुआ है । इस तरह अंशी पंच भूत से आपका अंश रूप शरीर भिन्न नहीं है । यह पंचभूत प्रकृति से जुड़े हैं। प्रकृति माया से जुड़ी हुई है, माया परमात्मा की शक्ति होने से माया शक्ति शक्तिमान परमात्मा से जुड़ी हुई है । अतः आप परमात्मा से भिन्न नहीं परमात्मा रूप ही हो ।

खोज उसकी करो जिसके प्रकाश में मैं अहंकार प्रकाशित हो रहा है । जिसके प्रकाश में मन की चंचलता, बुद्धि की ध्यानावस्था जानी जाती है । उस परमात्मा की खोज करो ।

आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी तथा मन, बुद्धि अहंकार इन अष्ट प्रकृति से भिन्न जो द्रष्टा, साक्षी, चैतन्यात्मा है 'वह मैं हूँ' ।

**भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।**
**अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टाधा ।।** ७/४ गीता

अतः जीव अहंकार करे तो मैं के प्रकाशक शुद्ध मैं अर्थात् आत्मा का ही करना चाहिये।

व्यक्ति प्रकाश में खड़ा हो या अन्धकार में उसके पुरुष होने में कोई अन्तर नहीं पड़ता । इसी प्रकार आत्मा को तुमने न जाना हो या गुरु

ज्ञान द्वारा जान लिया हो तो भी अचल, एकरस आत्म सत्ता में कुछ बढ़ना या घटना नहीं हो सकेगा ? आत्मा तो एक रस है । उसमें न ह्रास है न उत्कर्ष है ।

जैसे मिश्री, चीनी, गुड़ में मिठास घन है । मिठास के अतिरिक्त वे कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार इस जगत् कार्य में कारण रूप परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किञ्चित् भी कुछ नहीं है । अज्ञान नाम की वस्तु भी नहीं है। ज्ञान–अज्ञान, अन्धकार–प्रकाश, अग्नि–पानी एक साथ नहीं रह सकते ।

पानी में लहरे बने या शान्त हो जावे लेकिन पानी की सत्ता में कोई अन्तर नहीं पड़ता है । इसी तरह लहर रूप मन के चंचल होने व शान्त होने से जलाशय रूप आत्मा में कोई अन्तर नहीं पड़ता है ।

रात्रि समाप्त हुई व दिन प्रारम्भ हुआ नहीं इस सन्धि में आकाश की जो स्थिति होती है उस स्थिति से परमात्मा का अनुभव किया जा सकता है । अथवा एक वस्तु से दृष्टि हट कर दूसरी वस्तु पर दृष्टि नहीं गई है ऐसी मध्य सन्धि में स्थित दृष्टि से जो निराकार देखेगा उसे ही ब्रह्म रूप पहचानना है ।

अथवा इन्द्रियों द्वारा विषय ग्रहण करते समय एक विषय से हट दूसरे विषय पर अभी दृष्टि नहीं गई है उस मध्य के क्षण में निराकार तत्त्व है उसे ब्रह्मानुभूति कहते हैं । वही तुम हो । तत्त्वमसि ।

ऐसी स्थिति में शुद्ध, अखण्ड आत्मा में द्वैत के अभाव में देखना न देखने की क्रिया नहीं हो सकेगी । जैसे सूर्य अपना उदय अस्त नहीं जान सकता । रस स्वयं रस का स्वाद नहीं जान सकता । अग्नि अपनी उष्णता का अनुमान नहीं कर सकती । इसी तरह आत्मा ज्ञान स्वरूप होने से वह अपने आपके द्वारा नहीं जानी जा सकेगी । अतः द्वैत भाव का अभाव होने से उसमें देखने व न देखने का भाव नहीं रहता है । वह नित्य ज्ञान स्वरूप है अर्थात् वह स्वतः अपने आप को देखता, जानता नहीं प्रत्युत् सभी को देखता, जानता है।

द्रष्टा व दृश्य इन भावों के मूल में द्रष्टा ही सत्य है । द्रष्टा ही समस्त दृश्यों का मूल भूत अधिष्ठान है इसलिये दृश्य दिखाई पड़े तो भी उसे

रस्सी में साँप दर्शन की तरह मिथ्या ही जानना चाहिये ।

दर्पण की अपेक्षा से मुख में विम्ब पना व दर्पण में प्रतिविम्ब पना कल्पित हुआ है । वास्तव में तो मुख, मुख में ही है दर्पण में नहीं है ।

अष्टांगयोग–यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि साधन ब्रह्मवेता के सम्मुख शरणागति स्वीकार कर लेते हैं । ब्रह्मवेत्ता की सहज स्थिति के सम्मुख अष्टांगयोग इस प्रकार निस्तेज हो जाते हैं, जैसे सूर्य के सम्मुख पूर्णिमा का चन्द्रमा प्रभाहीन हो जाता है ।

इस ब्रह्मवेता के जीवन में प्रवृत्ति की निवृत्ति हो जाती है । ब्रह्मवेत्ता का सब व्यवहार होते हुए भी उसकी अद्वैत स्थिति बनी रहती है ।

समुद्र पर वर्षा पड़े, चन्द्रमा पर सूर्य की किरण पड़े या रात्रि चन्द्रमा पर चाँदनी पड़े, हिमालय पर शीत व वर्षा हो तो भी कोई द्वैत नहीं होता । इसी प्रकार इन्द्रिय विषय संयोग होने से द्वैत नहीं होता **'गुणा गुणेषु वर्तन्त'** गुणों से बना मन, गुण से बनी इन्द्रियाँ तथा गुण से बना विषय का संयोग द्वैत नहीं होता है । इस न्याय से इन्द्रियों द्वारा मन का विषयों से सम्बन्ध होने पर द्वैत नहीं होता है । लौकिक दृष्टि से भेद दिखाई पड़ने पर भी पारमार्थिक दृष्टि से कोई भेद नहीं पड़ता है । ज्ञानी मौन रहे अथवा प्रवचन करे तब भी उसका मौन भंग नहीं होता, वह कुछ बोला ही नहीं । ब्रह्मवेत्ता के द्वारा व्यवहार होने पर भी किञ्चित् द्वैत नहीं होता । क्योंकि उसकी दृष्टि में एक ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ भी सत्य नहीं है ।

ज्ञानी को जो करने की इच्छा हो वह विधि शास्त्र सम्मत क्रिया समझना चाहिये, उसे समाधि समझना चाहिये । जैसे अपने घर में कोई चले, बैठे, दौड़े तो भी वह अपने घर में रहता है । इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष जो भी करता है, वह अपने ही घर में अर्थात् आत्म स्वरूप में ही स्थित रहता है । उसके लिये आत्मस्मृति विस्मृति का कोई अन्तर नहीं पड़ता है । ऐसा ब्रह्मवेत्ता के जीवन की विलक्षणता रहती है ।

# जगत सब सपना

स्वप्नावस्था के द्रष्टा पुरुष को स्वप्न में मिला धन, सम्मान, अपमान, अंग छेदन, सन्तान उत्पत्ति, चोरी, घर में आग लग जाना आदि समस्त व्यवहारों का जाग्रत होने मात्र से उन समस्त शुभाशुभ, हानि–लाभ, मान–अपमान की हुई घटनाओं, क्रियाओं का किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं रहता है । इसी प्रकार आत्म भाव में जाग्रत होजाने वाले ज्ञानी पुरुष द्वारा समस्त व्यवहार होने पर भी वह कर्म में अकर्म ही देखता है, उसकी स्थिति अनिर्वचनीय है, विषयी लम्पट व्यक्तियों के जीवन के साथ उस ज्ञानी के जीवन की तुलना नहीं की जा सकती ।

एक वृक्ष में डाल, शाखा, पत्र, पुष्प, फलादि का विस्तार होने पर भी वह सब मूल रूप से एक वृक्ष ही होता है । पत्र, पुष्प, फल भिन्न प्रतीत होते हैं किन्तु वह सब एक डाल में ही होते हैं । डाल–डाल भिन्न प्रतीत होती है पर वह सब एक ही शाखा से जुड़ी होती है । शाखा–शाखा भिन्न प्रतीत होती है किन्तु वे सब एक ही मूल से जुड़ी होती है वृक्ष–वृक्ष पृथक्–पृथक् प्रतीत होते हैं किन्तु वे सब एक ही पृथ्वी से जुड़े होते हैं । इसी प्रकार इस चराचर का मूल अधिष्ठान एक परमात्मा ही है, उससे पृथक् यहाँ कुछ भी नहीं है । '**नेह नानास्ति किञ्चन्**' '**एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्म**'

एक स्वर्ण पिण्ड से भिन्न–भिन्न अलंकार होने से उनमें द्वैत नहीं होता है । एक पाषाण से मूर्ति गाय, घोड़ा, हाथी, ऊँट, कुत्ता, भक्त–भगवान्, मन्दिर सीढी बना देने से किञ्चित् भी द्वैत नहीं होता है । इसी तरह से एक परमात्मा से अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड एवं जड़–चेतन चराचर संसार हो जाने पर भी किञ्चित् द्वैत नहीं होता है ।

**जड़ चेतन जग जीव यत, सकल राम मयजानि ।** रामायण ।।
**बन्दउ सबके पद कमल, सदा जोरीयुग पाणि ।**
**येन ज्ञातमिंद सर्वं ज्ञातं भवति ।**
**यदेकविज्ञानेन सर्वमविज्ञातं विज्ञातं भवति ।।**

एक मूल उपादान कारण स्वर्ण, मिट्टी, लकड़ी, लोह के ज्ञान हो जाने से उन–उन धातुओं से उत्पन्न सभी नाम, रूप उस मूल उपादान से भिन्न नहीं प्रत्युत् सब एक अपने अधिष्ठान कारण स्वरूप ही है ।

**देहो देवालयः प्रोक्तः स जीवः केवलः शिवः ।**
**त्यजेदज्ञान निर्माल्यं सोऽहं भावेन पूजयेत् ।।** १० स्कन्द. उप.

यह देह ही आत्म देव का वास्तविक मन्दिर है, आत्मा ही परमदेव परमात्मा है । मनुष्य कृत मन्दिर व उसमें विराजित मूर्ति परमात्मा का कल्पित मिथ्या रूप है । अतः साधक अपने देहाभिमान का त्याग कर वह साक्षी, चैतन्य, परमात्मा मैं हूँ ऐसा अनुभव करने से जीवन्मुक्ति को प्राप्त करता है ।

**जीवः शिवः शिवो जीवः स जीवः केवलः शिवः ।**
**तुषेण बद्धो ब्रीहिःस्यातंतुषाभावेन तण्डुलः ।।** स्कन्द. उप.६

इस पंचभूत के शरीर में जो द्रष्टा, साक्षी, ब्रह्म, अविद्या, उपाधि से कर्म कर्ता एवं फल भोक्ता भ्रान्ति से जीव भाव को प्राप्त हुआ है, वह केवल शिव ही है । शिव ही माया उपाधि से ईश्वर संज्ञा को प्राप्त हुआ है । जैसे तुष रहित चांवल होता है एवं तुष सहित चाँवल ही धान कहलाता है। इसी प्रकार अविद्या, माया उपाधि से रहित यह एक शुद्ध ब्रह्म ही है ।

यह नहीं, यह नहीं कहने पर समस्त के अभाव का जो एक मात्र साक्षी शेष रह जाता है, जिसका निषेध नहीं किया जा सकता वह एक मात्र द्रष्टा, साक्षी, शिव स्वरूप आत्मा मैं हूँ ।

ईश्वर बुद्धि से जगत् के प्राणियों की सेवा करना ही पंचभूत, सूर्य, चन्द्र तथा जीव की पूजा है । यह अष्ट मूर्ति की पूजा ईश्वर की पूजा है ।

विश्व को अष्ट मूर्ति रूप जानना ईश्वर की उपासना है । ईश्वर ही सृष्टि कर्ता, पालन कर्ता एवं संहार कर्ता है, वही सृष्टि का आदि, मध्य तथा अन्त है । मूर्ति पूजा तो मन्द बुद्धि के साधकों के लिये है । जैसे वर्ण बोध कराने के लिये सचित्र वर्णमाला का ज्ञान बाल बोध के लिये प्रथम श्रेणी की शिक्षा है किन्तु वह अन्तिम शिक्षा नहीं है ।

# आत्म हत्यारा

'मैं देह हूँ' इस अहंकार में जीवन व्यतीत करने वाला व्यक्ति जघन्यतम महा अपराधी एवं आत्म हत्यारा है । 'मैं आत्मा हूँ' यह अनुभव ही पवित्रतम तप है । निमिष मात्र के लिये इस प्रकार का चिन्तन, ध्यान, विचार, कोटि जन्मों के पाप, ताप एवं संचित् कर्मों को समाप्त कर देता है । मैं आत्मा हूँ यह चिन्तन सूर्य के समान प्रकाश रूप है और मैं देह हूँ यह भाव घोर अन्धकार के समान है । तेज प्रकाश के समक्ष घोर अन्धकार का कोई सत्ता ही नहीं है, वह कहीं दिखाई भी नहीं पड़ता है । इसी प्रकार आत्मचिन्तन के समक्ष पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं ।

**उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।**
**आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।।** ६/५ गीता

हे आत्मन् ! अपने द्वारा अपना संसार–समुद्र से उद्धार कर और अपने को अधोगति में न डाल ; क्योंकि यह मनुष्य आप ही तो अपना मित्र है और अपना आप ही शत्रु है । जिसने अपने मन को जीत लिया है और विषयों से हटा कर आत्मा में जोड़ दिया है वह तो अपने आपका गुरु है । जिसने अपने मन को विषयों से नहीं मोड़ा है, वह अपने आप के लिये शत्रु समान है ।

हे साधकों ! यह अपना आत्मा पुस्तको में, मंत्रो में, भजन, कीर्तन में, तीर्थ–मन्दिर में नहीं मिलेगा वह तो तुममें है, वह तुम ही हो । पुस्तके तुम्हें विद्वान् बना सकती है, आत्मज्ञानी बना सकती है किन्तु आत्मनिष्ठ नहीं बना सकती । तुम आत्मा हो तथा साक्षात् आत्मा ही हो । आत्मा सर्वदा सच्चिदानन्द स्वरूप है । इनमें से सत् व चित् इन दोनों की जाग्रत

अवस्था में प्राप्ति होती है कि हम है व हम जानते हैं इन दो अनुभवों का कोई इन्कार नहीं कर सकता और सुषुप्ति अवस्था में सभी मनुष्यों को अपने में आनन्द अनुभव में आता है, यह भी इन्कार नहीं किया जा सकता ।

जाग्रत में आनन्द की प्रिय, मोद, प्रमोद वृत्ति के द्वारा आनन्द उपलब्ध होता है ।

इच्छित पदार्थ का दर्शन आनन्द की **प्रिय** वृत्ति है । इच्छित पदार्थ की प्राप्ति आनन्द की **मोद वृत्ति** कहलाती है । इच्छित पदार्थ को भोगलेने पर आनन्द की **प्रमोद वृत्ति** कहलाती है ।

व्यक्ति की दृष्टि अनुरूप ही सृष्टि होती है । अपने अनुभव के अनुसार ही जगत् दिखाई पड़ता है । एक समय कृष्ण ने युधिष्ठिर को बुरा व्यक्ति तथा दुर्योधन को एक अच्छा व्यक्ति खोज लाने के लिये २४ घण्टे का समय दिया । परिणाम में देखा कि युधिष्ठर को कोई पापी दिन भर खोजने पर भी नहीं मिला क्योंकि वह सबको धार्मिक अच्छा व्यक्ति मानता है । जबकि दिन भर में दुर्योधन को एक भी अच्छा धार्मिक व्यक्ति दिखाई नहीं दिया । इस घटना से सिद्ध होता है कि व्यक्ति की जैसी दृष्टि होती है वैसी ही उसे सृष्टि प्रतित होती है ।

**मैं तुम का यह भेद विकट था**
**अज्ञान दीवार थी बीच हमारे ।**
**दुर हुई सब विस्मृति जबसे**
**आई निज स्वरूप में तब से ।**

**उत्तमा तत्त्व चिन्तैव मध्यं शास्त्र चिन्तनम्** मैत्रेय. उप. २/१२

परमात्म प्राप्ति के लिये समस्त साधन से आत्म विचार करना सर्वोत्तम साधन है ।

**वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।**
**तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।।**

श्वेत. उप. ३/८

यहाँ एक अखण्ड परमात्मा के अतिरिक्त किञ्चित् भी अन्य नहीं है । तब मैं वही हूँ 'सोऽहम्' ऐसा निष्ठावान् मृत्यु से पार हो जाता है इस आत्मनिष्ठा से भिन्न भव–बन्धन से छूटने का कोई अन्य मार्ग नहीं है ।

**आत्मा और परमात्मा अलग रहे बहुकाल ।**
**'सुन्दर' मेला करा दिया, सद्गुरु मिले दयाल ।।**

# कौन उपास्य है ?

**उपास्य इति च सर्व शरीरस्थ चैतन्य ब्रह्म प्रापको गुरुरूपास्यः ।**

निरालब उप.३०

समस्त शरीरों में रहने वाले चैतन्य रूप ब्रह्म की जो प्राप्ति करा सके, सोऽहम् रूप से आत्मरूप से अनुभव करा सके वही गुरु उपास्य है । वही वास्तव में गुरु है ।

द्रष्टा स्वयं के दर्शन में सर्वथा असमर्थ है । आँखों को सब कुछ दिखाई देता है किन्तु आँख को अपनी आँख दिखाई नहीं देती तो क्या हमारे पास आँख है या नहीं, इस प्रकार किसी को कभी सन्देह हो सकेगा ? इसी तरह द्रष्टा दिखाई न दे तो भी द्रष्टा अपने को इन्कार करने में असमर्थ है । अपने को अस्वीकार करने पर भी इन्कार करने के रूप में द्रष्टा, चैतन्य, आत्मा उपस्थित ही है ।

अग्नि सबको जलाती है पर अपने आप को नहीं ।

पानी सबको गीला करता है किन्तु क्या वह उसी तरह अपने को गीला कर सकेगा ?

सूर्य सबको तेज व प्रकाश देने वाला है । क्या वह सूर्य अपने को भी तेज प्रकाश दे सकेगा ?

बर्फ सबको शीतलता प्रदान करता है क्या वह अपने को भी ठन्डक दे सकेगा ?

नीम सब को कटु लगता है क्या नीम को भी कटुता अनुभव में आती है ?

क्या सबको जानने वाला आत्मा अपने को जान सकेगा ?

जिसका जो स्वभाव होता है, क्या वह अपने स्वभाव का इन्द्रिय विषय की तरह ग्रहण कर सकेगा ?

मैं हूँ बस यही जानो ''मैं अमूक हूँ इस प्रकार न सोचो । केवल आत्म रूप में रहो ।

'साक्षी' शब्द की सार्थकता तभी है, जब दिखने के लिये सम्मुख कोई दूसरे व्यक्ति की उपस्थिति हो। अन्यथा दूसरे के बिना आप साक्षी नहीं हो सकेंगे, द्रष्टा नहीं हो सकेंगे । जैसे भिखारी को कुछ दिये बिना आप दानी नहीं कहला सकेंगे । बिना पुत्र–पुत्री के पिता–माता नहीं कहला सकते । इसी प्रकार बिना द्वैत के साक्षी,द्रष्टा भी नहीं हो सकेंगे । परम सत्य तो अद्वैत–द्वैत से परे उसका भी साक्षी प्रकाशक है । '**साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च**' ६/११ श्वेता. उप मंत्र में साक्षी का आश्रय सन्निधि मानना चाहिये जिसके अभाव में कुछ भी सम्भव नहीं ।

जब कोई द्वैत नहीं तब तुम्हें न कोई मार सकता है, न कोई डरा सकता है । न कोई दुःख दे सकता है, न कोई अपमानित कर सकता है । सम्मानित या अपमानित करने को तुम्हारे अतिरिक्त न कोई अन्य यहाँ है । जैसे स्वप्न में तुम ही सम्पूर्ण स्वप्न संसार प्रकट करते हो, पालन करते हो तथा उसे तुम ही उठने के पूर्व समाप्त कर देते हो । वहाँ तुमही सर्व दृश्य के अन्तर्गत एक ही द्रष्टा स्थित हो । यही निश्चय करो कि मेरे अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं है । केवल मैं आत्मा हूँ यही आत्मसाक्षात्कार है । यही शान्ति है यही निर्विषयक परमानन्द है ।

जाग्रत में भी तुम सुषुप्ति वत् असंग, अद्वय, निष्क्रिय मैं–मेरा भाव से रहित होकर, आत्म भाव में रहो । बाह्य घटनाओं में तुम मत घुसो, अछूते रहो, अकलुषित बने रहो । अच्छी बात तो यही है कि आपके लिये द्वैत भाव ही पूर्ण रूप से समाप्त हो जाना चाहिये ।

जिसकी तुम अन्यत्र खोज कर रहे हो, वह तुम्हारे पास पहले से ही है । जैसे कस्तूरी की खोज में घूमने वाला मृग को कस्तूरी पहले से ही प्राप्त है । अतः परमात्मा हेतु तुम्हें किसी बाह्य साधन करने की आवश्यकता नहीं है । साक्षात् आत्मा तुम पहले से ही हो और किसी अन्य के साक्षात् 'कार' करने की जरूरत नहीं बस केवल सन्देह निवृत्ति हेतु गुरु की आवश्यकता है ।

# जीवन मुक्त ज्ञानी

कहते हैं परिक्षित निर्जीव मृत प्रसूत शिशु ही था । मृत सन्तान के पितामाता ने आर्त स्वर में वहाँ उपस्थित सभी सिद्ध, योगी, तपस्वी, ब्रह्मचारी, संन्यासी, कृष्ण, शुकदेवादि को पुकारा कि मेरे इस बच्चे को आप होश में लाइये । तब श्रीकृष्णजी ने शुकदेव तथा ऋषिगण से कहा आप में जो ब्रह्मचारी हैं वे इस बच्चे को स्पर्श करदे तो यह बालक जीवित हो सकता है । यह घोषणा सुनकर शुकदेव व नारदादि ऋषि चुप–चाप खड़े रहे किसी को अपने बाल ब्रह्मचारिता पर विश्वास नहीं हो रहा था । स्पर्श करने में डर रहे थे कि हमारे स्पर्श से जीवित न हुआ तो हमारे ब्रह्मचारी उपाधि पर कलंक लग जावेगा । क्या पता स्वप्न में किसी स्त्री से हमारा सम्बन्ध होगया हो एवं वीर्य पात हो चुका हो, इसका कौन विश्वास ?

जब कृष्णजी ने देखा कि कोई इस बच्चे को छूने का साहस नहीं कर रहा है तब कृष्ण ने कहा कि यदि मैं बाल ब्रह्मचारी होऊँ तो यह बालक मेरे स्पर्श से जीवित हो जावे । कृष्ण ने सबके सम्मुख बालक को स्पर्श किया व तत्काल वह बालक जीवित हो गया । उसकी प्राणगति चलने लगी । यही बालक राजा परिक्षित हुआ व शुकदेव के भागवत उपदेश द्वारा आत्म कल्याण को प्राप्त हुआ ।

जरा सोचिये ! १६००० गोपियों के साथ नित्य रास–रमण करने वाले, अष्ट पटरानियों के प्रकट स्वामी तथा अनेकों सन्तान के पिता होकर भी वे फिर किस प्रकार ब्रह्मचारी ? इसी प्रकार एकबार गोपियाँ यमुना पार दुर्वासा ऋषिके आश्रम मे जाने को प्रस्तुत हुई । किन्तु यमुना

नदी में बाढ़ जा रही थी तब कृष्णने यमुना पार होने के लिये यही प्रमाण दिया कि कृष्ण ब्रह्मचारी है तो यमुना मार्ग दे और इतना कहते ही यमुना नदी के बाढ़ के पानी ने रास्ता दे दिया । इधर दुर्वासाजीने भी सब गोपियों का समस्त भोजन खाकर भी अपने को उपवासी सिद्ध कर दिया व यमुना नदी से गोपियों को मार्ग दिला दिया । ऐसी विलक्षणता है जीवन मुक्त संत महापुरुष में ।

जीवन्मुक्त महापुरुष वह है जो अपने से पृथक् किसी को भिन्न न जाने ।

आत्म साक्षात्कार होने पर उस ज्ञानी की दृष्टि में संसार की सत्यता एवं देह भाव का लोप हो जाता है, तब सर्वत्र एक आत्मा स्वयं ही शेष रह जाता है । तुम सब कुछ परमात्मा पर छोड़दो । आपकी सभी चिन्ता उसकी होगई, यही समर्पण है, यही शरणागति एवं अनन्य भक्ति अथवा जीवन्मुक्त दशा है ।

ज्ञानी के बाह्य आचरण को देख अश्रद्धा नहीं करना चाहिये । वेदान्त चूड़ामणि के पांचवे अध्याय के १८१ श्लोक में बताया कि जीवन्मुक्त पुरुष प्रारब्धानुसार ज्ञान या अज्ञान से आवृत प्रतीत होता है तथापि वह सर्वदा आकाश के समान निर्मल रहता है । जैसे आकाश कभी वायुवश घने बादलों से एवं रात्रि के घोर अन्धकार से आवृत रहता है, कभी बिजली द्वारा चमकता है तो कभी आंधी व वर्षा द्वारा घिरा रहता है तो कभी वह बादल, बिजली, वर्षा, शीत के प्रभाव से मुक्त रहता है । अथवा स्फटिक मणि नीले, पीले, हरे, नारंगी, गुलाबी रंग के प्रकाश से आवृत होने पर भी उसकी निर्मलता, कलुषित नहीं होती है। इसी प्रकार ज्ञानी आकाश एवं स्फटिक मणि की तरह निर्मल रहता है ।

ज्ञानी यदि कामोपभोग में निमग्न दिखाई पड़े तो भी यही जानना चाहिये कि इस तरह वह आत्मा के उस सहज शाश्वत आनन्द में तल्लीन हो रहा है । उसने अपनी मूल प्रकृति एवं स्वयं को जीव व ब्रह्म के रूप में विभाजित कर लिया है तथा अब उसके पुनर्मिलन का आनन्द प्राप्त कर रहा है ।

ज्ञानी की समसत क्रियाएं मानवीय स्तर से दिव्यत्व का व्यक्त रूप है । ज्ञानी का अस्तित्व जगत् कल्याणार्थ ही होता है । ज्ञानी के बाह्य आचरण को देख उसका तिरस्कार नहीं करना चाहिये । कृष्ण ब्रह्मचारी एवं दुर्वासा ऋषि सदा उपवासी की घटना शास्त्रों में प्रमाण रूप है ।

तुम शिव से एक क्षण भी पृथक् नहीं हो । अभी भी सब काम करते हुए तुम चैतन्य शिव ही हो । तुम शिवात्मा के बिना एक श्वाँस, एक पल भी नहीं रह सकते । मुझे शिव का, आत्मा का साक्षात्कार नहीं हुआ है, यह नकारात्मक संस्कार ही तुम्हारे प्रत्यक्ष आत्मसाक्षात् बोध में बाधक है ।

कोई मूर्ख, यदि किसी उपदेश कर्ता सद्गुरु से यह पूछे कि क्या तुम परमात्मा से भिन्न हो ? क्या तुम्हें परमात्मा मिला है ? तो उसे कहना चाहिये कि क्या तुम स्वयं परमात्मा से भिन्न हो ? क्या कोई जीवित प्राणी परमात्मा से भिन्न एक क्षण भी हो सकता है, जो तुम मुझसे पूछ रहे हो कि क्या तुम्हें आत्म साक्षात्कार हो चुका है ?

मैं द्रष्टा हूँ यह सोचकर अपने आत्म स्वरूप का निश्चय कर लेना चाहिये । क्योंकि द्रष्टा आत्मा अन्तरंग ही है तथा दृश्य बहिरंग एवं जड़ ही होता है।

शुद्ध चैतन्य व देह के मध्य एक मिथ्या मैं उत्पन्न हो जाता है । जो स्वयं को देह में सीमित मानता है । जैसे विराट् सूर्य का प्रतिविम्ब एक पानी के घड़े में अपने को सीमित जानता है । किन्तु जब उस प्रतिविम्ब के सत्यता की खोज करोगे तो सूर्यास्त होने पर पृथ्वी पर स्थित जलाशय या घटादि से वह प्रतिविम्ब स्वतः ही नष्ट हो जाता है किन्तु आकाश स्थित सूर्य ही विद्यमान रहता है । इसी तरह बुद्धि में चैतन्य का प्रतिविम्ब अपने को सीमित जानता है परन्तु जब देह भाव नष्ट हो जाता है तब यह सीमित पना भी नष्ट हो जाता है । तब बुद्धि में प्रतिविम्बित झूठा मैं नष्ट हो जाता है एवं बुद्धि का साक्षी स्वयं शुद्ध ब्रह्म ही शेष रह जाता है ।

अज्ञानी अपनी देह को आत्मा से मिला देता है और अपने को जन्मने-मरने वाला देह मानता है तथा अपने गुरु की देह को अपनी

आत्मा मान लेता है । परन्तु क्या गुरु भी अपनी देह को मैं आत्मा मानता है ? कभी नहीं । वह देह को मैं आत्मा नहीं जानता है, क्योंकि वह देह भाव से उठ चुका है तब आप क्यों उसकी देह को आत्मा मान लेते हो एवं उसकी देह की ही पूजा, उपासना में सदा जीवन व्यतीत कर अपने कल्याण की आशा रखते हो ? जो समस्त शरीरों में रहनेवाले चैतन्य रूप ब्रह्म की प्राप्ति कराये, वही गुरु उपास्य है । अस्तु गुरु ज्ञान है, देह नहीं है । देह तो ज्ञान प्राप्त करने का माध्यम है, इसीलिये वन्दनीय है । जैसे पृथ्वी के बिना वृक्ष की प्रतीति नहीं होती है, उसी प्रकार देह के बिना आत्मोपदेश नहीं हो सकेगा । फल तो वृक्ष से मिल सकेगा, पृथ्वी से नहीं । इसी प्रकार ज्ञान तो देहधारी चैतन्य गुरु से मिल सकेगा, गुरु के मृतशरीर से नहीं । अर्थात् निराकार आत्मा से ज्ञानोपदेश नहीं मिल सकता ।

पत्र, पुष्प, जल, फल, दुग्ध आदि वस्तुओं द्वारा परमात्मा की पूजा बहुत कष्टप्रद है । इसकी अपेक्षा अपने हृदय पुष्प को ही परमात्मा के श्री चरणों में समर्पित कर देना सच्ची भक्ति एवं शरणागति है । पौधा एवं पुष्प स्वयं परमात्मा के द्वारा निर्मित जीवित मूर्ति है । पत्र, पुष्प को पौधे से तोड़ जड़ मूर्ति पर चढ़ाना और उस पुष्प की पंखुड़ियों को अलग–अलग करना महा अपराध है । अज्ञानी लोग इस सरल सहज भाव से पूजा को न कर पेड़, पौधे, पत्र, पुष्प को सताकर, कष्ट देकर तोड़ कर उनके जीवन व सौन्दर्य को नोंच कर नष्ट करना ही भक्ति मानते हैं। जिसके फल स्वरूप वे बारम्बार जन्म–मृत्यु के पाश में बन्धे स्वयं भी दुःख पाते रहते हैं ।

अनन्त आनन्द सिन्धु परमात्मा के प्रति आत्म समर्पण कर देना ही श्रेयस्कर सच्ची भक्ति एवं पूजा है । अर्थात् अपने को परमात्मा से पृथक् न जानना ही सच्ची. श्रेष्ठतम भक्ति, सच्चा समर्पण है ।

किसी भी वस्तु को जानने के लिये चेतन का, आत्मा का, मैं का होना जरूरी है । अतः तुम आत्मा सुस्पष्ट हो फिर तुम अपने को आत्मा

जानकर क्यों नहीं रहते हो ? मैं यह हूँ, मैं वह हूँ, मैं ऐसा हूँ इस प्रकार क्यों अपने को बार–बार अनात्म रूप मानते हो ?

परमात्मा पूर्ण है, अखण्ड है, सर्वव्यापक है, सर्वाधिष्ठान है, सर्व का उपादान कारण तथा आदि, मध्य एवं अन्त वही है । यदि तुम परमात्मा को इस प्रकार मानते हो तब तुम उससे पृथक् कभी भी नहीं हो सकते । यदि तुम अपने को पूर्ण से पृथक् मानते हो तो फिर वह परमात्मा तुम्हें छोड़ कर कभी पूर्ण नहीं हो सकेगा । परमात्मा अपनी पूर्णता तो तुम्हारे द्वारा ही पूर्ण कर सकेगा । अथवा उससे पृथक् तुम कभी एक क्षण को भी जीवित नहीं रह सकोगे । फिर तुम उसको क्यों इधर–उधर ढूंढते हो, वह खुद ही अपनी पूर्णता हेतु तुम्हें ही खोज लेगा । परमात्मा की सिद्धि भी तुम्हारे बिना नहीं हो सकेगी । तुम्हीं तो सिद्ध करते हो कि यह सूर्य है, यह चन्द्रमा है, यह दिन है, यह रात है, आज सोमवार है, आज पच्चीस तारीख है, यह अप्रिल महिना है, यह २०१२ वर्ष है, यह राम है, यह शिव है, यह कृष्ण है, यह भगवान् राम है, यह स्वर्ग है, यह नरक है, यह कर्म पाप है, यह कर्म पुण्य है इत्यादि । जिसे तुम सिद्ध करते हो वह एकदेशीय, परिच्छिन्न, नाशवान अनात्मा, जड़ एवं पर प्रकाश है और सबको प्रकाशित करने वाले केवल तुम ही एकमात्र स्वयं प्रकाश चेतन आत्मा हो ।

**राम अतर्क्य बुद्धि मन वाणी, मत हमार अस सुनहु सयानी ।**

मैं अनुभव करता हूँ एवं शास्त्र भी यही कहते हैं कि सत्य आत्मा अप्रमेय होने से वह मन, बुद्धि, वाणी से नहीं जानी जाती है वह अनिर्वचनीय, अकथनीय है । तब मैं क्यों न्याय, तर्क, शास्त्र, ब्रह्मसूत्र पढ़ूँ व संस्कृत श्लोकों का सन्धि विच्छेद करने, रटने के जाल में पडकर समय व शक्ति का अनात्म चिन्तन में अपव्यय करूँ ? बारम्बार मैं द्रष्टा, साक्षी आत्मा हूँ यह आवृत्ति करने की भी क्या जरूरत ? जब मैं हूँ ही आत्मा, तो फिर रटना भी क्या ? जैसे मैं मनुष्य हूँ, मैं मनुष्य हूँ यह जप करना मूर्खता ही होगा क्योंकि मैं निःसन्देह मनुष्य ही हूँ ।

सूर्य प्रकाश केवल अन्धकार को दूर करता है किन्तु वह पदार्थ का

बोध नहीं कराता किन्तु चेतन आत्म प्रकाश अन्धकार व प्रकाश दोनों को प्रकाशित करता है ।

द्रष्टा–दृश्य–दर्शन, प्रमाता–प्रमेय–प्रमाण, ज्ञाता–ज्ञेय–ज्ञान यह त्रिपुटी सत्य नहीं है । सत्य तो इन तीनों से परे तीनों का प्रकाशक है । जिसके आधार से यह तीनों के भाव–अभाव को जाना जाता है । वह तुम ही सत्य हो '**तत्त्वमसि**' ।

ईश्वर दर्शन का स्थान आत्म साक्षात्कार की भूमिका से निम्न का है । तभी तो ईश्वर दर्शन पाने वाले दशरथ, हनुमान, लक्ष्मण, अर्जुन, नारद, मीरा, शबरी आदि भगवान् के परम भक्त अपने कल्याण हेतु गुरु शरण में ज्ञान प्राप्त करने जाते हैं । ज्ञान धारण करते हैं । गीता उपदेश प्राप्त करते हैं ।

**तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।**
**ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते'** १०/१० : गीता

निरन्तर मेरे ध्यान आदि में लगे हुए, प्रेमपूर्वक भजनेवाले, भक्तों को मैं वह तत्त्वज्ञान रूप योग देता हूँ जिससे वे मुझ आत्मा को ही प्राप्त होते हैं ।

**यत्र यत्र मनोयाति तत्र तत्र समाधयः**

नामदेव ने देखा एक सन्त शिवलिंग पर पैर रखे सो रहे हैं। नानक देव काबा की तरफ पैर कर सो रहे हैं जब उनके पैरों को उस पर से हटा दूसरी तरफ किया तो वह शिवलिंग, वह काबा भी उस ओर घूम गया। कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञानी परमात्मा की सत्ता को सर्वत्र मानता है उसकी दृष्टि परमात्मा के अतिरिक्त यहाँ–वहाँ किञ्चित् भी अन्य नहीं देखती है । जबकि अज्ञानी परमात्मा को एक स्थल पर एक आकार में ही मानता है ।

जब तुम सुषुप्ति में केवल अपने होने को स्वीकार करते हो कि रात गहरी नींद में मेरे अतिरिक्त यह स्थूल शरीर परिवार, सम्पत्ति अन्य कुछ नहीं थे । यदि यह सब जाग्रत वाले सत्य होते तो सुषुप्ति में भी सब इसी प्रकार रहते किन्तु वहाँ देह की प्रतीति न होने पर भी तुम रहते हो । जब

तुम सुषुप्ति में निराकार देह रहित रहते हो तो फिर परमात्मा को निराकार क्यों नहीं मानते हो ? तथा जाग्रत में भी अपने को निराकार निजात्मन्द रूप क्यों नहीं मानते हो ?

जब मैं को केवल मैं ही माना जाता है तब वह शुद्ध आत्मा है और जब मैं को **यह** या **वह** रूप मानलेते हो तब वह आत्मा का अशुद्ध रूप है । क्योंकि निर्गुण निराकार होने से भगवान शंकर अपने भक्तो पर प्रसन्न होकर उसके उद्धारार्थ किसी शरीर धारी ज्ञानी गुरु की खोज कर उस भक्त से मिला देते हैं । किन्तु स्वयं उस भक्त का उद्धार निराकार रूप से नहीं कर सकते । फिर वह ज्ञानी गुरु के मुख से भगवान शंकर ही अपने भक्तों के कल्यायार्थ आत्म ज्ञान उपदेश करते हैं । अपने को **यह** या **वह** रूप में नहीं केवल आत्मा जानो और अपने को '**यह, वह**' का केवल द्रष्टा, साक्षी, शुद्ध, सच्चिदानन्द ब्रह्म ही जानो ।

मैं यह हूँ, मैं वह हूँ यह धारणा का त्याग कर दो । यह, वह होना या अपने को ऐसा–वैसा मानना यह अहंकार एवं बन्धन है ।

**उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।**
**आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।।** ६/५ गीता

अस्तित्व ही मैं हूँ यह सम्पूर्ण सत्य का सार है । देह भाव को भूलादे और अपने आत्मभाव में शान्त हो स्थिर हो जाओ। आत्म भाव से फिसल कर देह भाव में मत गिरो । अपने आत्मा को अधोगति में जाने से बचाओ ।

यदि परमात्मा आत्मा से भिन्न होगा तो वह अनात्मा होगा जो हास्यप्रद बात है । '**अहमात्मा गुडाकेश**' । स्फूरण मैं के रूप में नित्य है । अहंकार अनित्य है । अहंकार अशुद्धात्मा है, मैं शुद्धत्मा हूँ । अशुद्धात्मा वह, यह के रूप में उदय–अस्त स्वभावी है । मैं 'शुद्धात्मा का उदय–अस्त नहीं है, प्रत्युत् मैं अशुद्धात्मा के उदय–अस्त का भी साक्षी, प्रकाशक, नित्य आत्मा हूँ । यद्यपि तुम शुद्धात्मा हो तथापि अशुद्धात्मा से तादात्म्य कर शुद्ध मैं का 'यह, वह' रूप स्वीकार करलेते हो ।

नेत्र के अस्तित्व को हम स्वीकार करते हैं कि नेत्र हैं जबकि आँख को हमने कभी देखा नहीं, कान को कभी सुना नहीं फिर भी हम कान को स्वीकार करते हैं । इसी तरह मैं को कभी किसीने देखा नहीं फिर भी मैं नहीं हूँ ऐसा कोई अस्वीकार नहीं करता है । मैं आत्मा इन्द्रियों के द्वारा विषयों की तरह ग्राह्य पदार्थ नहीं है । फिर भी मैं हूँ इस प्रकार सभी अपने को जानते रहते हैं । यही आत्मा साक्षात् तुम हो । अन्धकार में बिना किसी के पूछे तुम अपने को जानते हो। तुम्हें अपने होने के लिये किसी से पूछने की आवश्यकता नहीं रहती कि मैं हूँ या नहीं ?

शुद्धात्मा का अनुभव दो संकल्पों के बीच में अथवा दो श्वाँसों के मध्य में होता है । एक श्वाँस भीतर जाकर शान्त हुआ व अभी बाहर आने को उठा नहीं या एक दृश्य से दृष्टि उठी व दूसरे दृश्य पर अभी पहुँची नहीं इन दो दृश्य के मध्य जो दीखता है, जो होता है वही ब्रह्मात्मा तुम हो ।

ईश्वर है यह सोचना नहीं है । मैं ईश्वर हूँ उसके लिये हमें यह सोऽहम्–सोऽहम्, शिवोऽहम्–शिवोऽहम् जप भी नहीं करना है बल्कि ऐसा अनुभव करो कि वह मैं हूँ । तब कोई दुःख नहीं, भय नहीं, चिन्ता नहीं । जानो कि मैं परमात्मा हूँ, न कि विचार करों कि परमात्मा है।

अस्तित्व ही मैं हूँ इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य को आत्मभाव में रहना चाहिये । **तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि, अयमात्मा ब्रह्म**, इसी भाव में रहने का उपनिषदों में उपदेश है ।

**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम् ।**

– ४/५/६ ब्रह्मदारण्यक उप.

घर में रहते हुए जैसे कोई अपने घर का मार्ग पूछे तो वह व्यक्ति पागल मालूम पड़ेगा । इसी प्रकार यह जीव ब्रह्म में निरन्तर रहकर भी आत्मा को प्राप्त करने का, परमधाम पहुँचने का, आत्म साक्षात्कार का, मुक्ति प्राप्त करने का, परमात्मा को प्राप्त करने का मार्ग पूछे कि मैं आत्मा तक किस साधन से पहुँच सकूँगा ? यह पहुँचने, प्राप्त करने की बात

पूछना अज्ञान ही है । क्या मछली जल तक पहुँचने का मार्ग पूछें कि जल कहाँ मिलेगा या अलंकार स्वर्ण से मिलना चाहे तो जानना चाहिये कि यह उन्हें उनके स्वरूप का अज्ञान मात्र ही है । मछली जल में और अलंकार स्वर्ण में नित्य विद्यमान है इसी तरह यह जीव सदा मुक्त आत्म स्वरूप ही है । अतः आत्म भाव में रहो । तुम आत्मा ही हो ।

**मछली खोजे नीर को, कपड़ा खोजे सूत ।**
**जीव खोजे ब्रह्म को, तीनों ऊत के ऊत ।।**

नेति–नेति का, अर्थ है तुम उस एक पर टिको । जो सब दृश्य रूपों को इन्कार करते–करते कि मैं यह भी नहीं, मैं यह भी नहीं फिर जो शेष रह जाता है, जिसे इन्कार नहीं किया जा सकता, यही तुम हो । केवल यही जो नेति–नेति का साक्षी है, जो समस्त को अस्वीकार करता है वह स्वयं को कभी अस्वीकार नहीं कर सकता ।

# कर्ता कौन है ?

आत्मा तो द्रष्टा, ज्ञाता है वह तो कुछ करता नहीं है । प्रकृति द्वारा ही सभी कर्म होते हैं । शरीर व प्राण भी जड़ है वह भी कुछ करते नहीं है । अब रहा अन्तःकरण, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये चार करण है जिनको अन्तःकरण कहते हैं । यह अन्तःकरण भी कर्ता नहीं है । क्योंकि करण अर्थात् इन्द्रियाँ भी कर्ता के आधीन है । इन्द्रियाँ तो क्रिया की सिद्धि में सहायक होती है । कारण के बिना किसी क्रिया की सिद्धी नहीं होती है । जैसे कलम कारण है, लिखने का साधन है जो लेखन कर्ता के आधीन होता है । अतः अन्तःकरण कर्ता नहीं और कर्ता कारण नहीं होता है । यदि अन्तःकरण कर्ता होता वह स्वयं को सुखी–दुःखी क्यों बनाता ? यदि अन्तःकरण सुखी–दुःखी होता है तो हमें क्या हानि ?

वास्तव में जो भोक्ता होता है वही कर्ता होता है । भोक्ता न सत् है न असत् है । क्योंकि सत् का कभी अभाव नहीं होता है जब कि भोक्ता का वैराग्य अवस्था में अभाव हो जाता है । असत् भी भोक्ता नहीं क्योंकि असत् की सत्ता नहीं । इसलिये साधक को चाहिये कि वह मैं पन को सत–असत् दोनों से हटाले तो फिर मैं पन नहीं रहेगा । प्रत्युत् चिन्मय ज्ञान सत्ता ही रह जायगी । यह मैं पन प्रकृति का है वही कर्ता है ।

**प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।**
**अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।।** ३/२७ : गीता

किन्तु विवेकहीन मूढ़ पुरुष प्रकृति के कार्य को अपना मान दुःख एवं बन्धन को प्राप्त होता है । किन्तु सद्‌गुरु की कृपा से जिस ज्ञानी पुरुष को अपने असंग, द्रष्टा, साक्षी,आत्म स्वरूप का बोध हो जाता है उसके

द्वारा समस्त कर्म होने पर भी वह अपने को कर्म का कर्ता एवं फल का भोक्ता नहीं देखता है ।

**नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।**
**गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ।।**१४/१९ गीता

जब विवेकी मनुष्य देह, प्राण, इन्द्रिय, मनादि की क्रियाओं का तीनों गुणों के सिवाय अपने को कर्ता नहीं देखता है और गुणों से परे अपने को आत्मा रूप से अनुभव करता है, तब वह ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त हो जाता है ।

**नैव किञ्चित्करोमिति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।** ५/८ गीता

**इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन ।।** ५/९ गीता

आत्म तत्त्व को जानने वाला सांख्य योगी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, छूता हुआ, सूंघता हुआ, खाता हुआ, बोलता हुआ, श्वाँस क्रिया देखता हुआ, आँख बन्द व खोलता हुआ, सोता हुआ, जागता हुआ, संभोग करता हुआ, मल–मूत्र त्याग करता हुआ इस प्रकार सम्पूर्ण १४ त्रिपुटियाँ अपने विषयों में बरत रही है ऐसा समझकर 'मैं स्वयं कुछ नहीं करता हूँ' ऐसा अपना असंग, निष्क्रिय, अकर्ता, साक्षी आत्मा स्वरूप को जानता रहता है । यही है कर्म करने की गुप्त कला, जिसे कृष्ण कहते हैं – **तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ।** ८/२७ : गीता

**प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।**
**यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ।।** १३/२९ गीता

जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति के द्वारा ही किया हुआ देखता है और अपने आत्म स्वरूप को अकर्ता रूप जानता है वही यथार्थ देखने वाला है, शेष सभी कर्तृत्वाभिमानियों को अज्ञानी अन्ध ही जानो ।

# गुरु को प्रणाम

नमस्कार का अर्थ अपने समस्त अहंकार का शमन कर देना है। शमन का अर्थ उद्‌गम के मूल आत्म भाव में अपने को विलीन करदेना जैसे सरिता सागर में अपने को विलीन कर देती है । परमात्मा या गुरु के सम्मुख ऊपरी ढंग से जैसे घुटने टेक कर उपासना करते हैं, प्रणाम करते हैं उस प्रणाम या साष्टांग से गुरु या परमात्मा को धोखा नहीं दिया जा सकता । यह देखना है कि इस व्यक्ति का व्यक्तित्व याने अहंकार गिरा है या नहीं है । जो लोग अपने अहंकार का तो शमन करते नहीं एवं लम्बी साष्टांग प्रणाम कर उठ चलदेते हैं, उनके इस प्रकार बाह्य प्रणाम, श्रद्धा, भक्ति द्वारा कभी कल्याण का मार्ग नहीं खुल सकेगा ।

गुरु किसी जिज्ञासु को आत्म साक्षात्कार नहीं कराता है, क्योंकि जिज्ञासु तो प्रथम से स्वयं आत्मा ही है । गुरु केवल उन बाधाओं को दूर करने में मदद करता है जिनके कारण स्वयं आत्मा होकर भी अनात्मा देहाभिमान किये रहता है। सद्‌गुरु के द्वारा आत्मा का मैं रूप में अनुभूती होती है। इसका कोई आकार देखने में नहीं आता है। इस सरल तथ्य को जानना आवश्यक है। बस आत्म साक्षात्कार के लिये इतना ही पर्याप्त है।

अहंकार तुम्हारी आँख पर मोतिया बिन्द या कंकड़ी की तरह पड़ा होने से प्रकट परमात्मा तुम्हें दिखाई नहीं पड़ता है । कंकड़ी हटते ही, मोतिया हटते ही परमात्मा प्रकट हो जाता है ।

**जब मैं था तब हरि नहीं,**
**अब हरि है मैं नाहि ।**

## प्रेम गली अति साँकरी तामें दो न समाहि ।

परमात्मा प्रकट ही था, जब तुम नहीं थे, जब तुम्हारा मैं पना नहीं था । जब तुम मौजुद होगये, अब परमात्मा छूपगया । जब अहंकार 'मैं कुछ हूँ' । का भाव मिट जाता है तब तुम ही परमात्मा हो जाते हो । मठ, घट टूटते ही मठाकाश, घटाकाश एक अखण्डाकाश ही रह जाता है । इसी प्रकार अविद्या, माया उपाधि हटते ही एक अखण्ड चैतन्य ही रह जाता है एवं जीव, ईश्वर का भेद समाप्त हो जाता है ।

क्षर–अक्षर का, द्रष्टा एवं दृश्य का जो आधार शुद्ध चैतन्य आत्मा है उसे मैं रूप जानलो एवं उसी में स्थित हो जाओ कि वही मैं हूँ, यह मैं नहीं जो सब को दिखाई देता है । तो सभी समस्याएँ हल हो जावेगी ।

तुमने अपने को देह मानलिया है इसीलिए तुम गुरु को भी देह मानते हो । यदि तुम अपने को आत्मा जानलो तो तुम्हें गुरु भी आत्मा रूप से प्रतीत होगा । सम्पूर्ण जगत् भी गुरु रूप से प्रतीत होगा '**गुरुरेव जगत् सर्वम्** ।'

सद्गुरु की पहचान केवल इस बात में की जा सकती है कि उनके सानिध्य में आने से शिष्य के मन में उनको अपना सर्वस्व लुटादेने की, न्योछावर करदेने की प्रबल इच्छा जाग्रत हो, स्वयं को मानसिक शान्ति मालुम पड़े, अपने सम्बन्ध में समस्त संशय समाप्त हो जावे । इस प्रकार श्रद्धा जाग्रत होने पर साधक को गुरु की आंशिक पहचान हो सकती है ।

साक्षात्कार के लिये अभ्यास करने की जरूरत नहीं है । यदि देह संघात् का अध्यास नहीं है तो फिर किसी प्रकार के अभ्यास करने की जरूरत नहीं है । रोग नहीं तो औषध खाने की जरूरत नहीं है । यदि देहसंघात् का अध्यास नहीं है तो तुम साक्षात् आत्मा ही हो ।

तुरीय अवस्था को जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति से भिन्न प्राप्त करने जैसी अवस्था न जानो । वह तो इन तीनों अवस्था का आधार है । यह तुरीय तत्त्व किसी भी क्षण किसी को अप्राप्त नहीं है । तुरीय अवस्था ही जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था को खेलने का एक परदा या मैदान ही जानो । इसी परदे पर इन तीन अवस्थाओं का खेल कूद चलता रहता

है । यह तुरीय आत्मा ही समस्त घटनाओं एवं जीवन चक्र का आधार है, यही सत्य है किन्तु यह तीनों अवस्थाएँ सत्य नहीं है । यह तुरीय तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है । तीनों अवस्थाएँ नाच कूदकर इसी में लीन हो जाती है । अतः वे व्यतिरेकी स्वभाव की है तथा आत्मा अन्वय स्वभाव है, अवस्थाओं का आत्मा में किञ्चित् भी स्थान नहीं है ।

चलचित्र में परदे पर चित्र चलते हुए दिखाई पड़ते हैं । चित्र परदे पर अपना कोई भी रंग प्रभाव नहीं डालते हैं। परदा समस्त चलचित्र की घटनाओं से असंग, अछूता, निष्क्रिय, निर्विकार ही बना रहता है । चित्र देखने वाले केवल चित्र को ही देखते रहते हैं किन्तु चित्रों के अधिष्ठान प्रकाश या परदे पर किसी की दृष्टि नहीं जाती है। इसी तरह जगत् चित्र या जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाएँ चलचित्र की तरह इसी आत्म अधिष्ठान आत्मा के परदे पर दिखाई पड़ता है तथापि आत्मा इन सबसे असंग ही रहता किन्तु अज्ञानी अधिष्ठान आत्मा का विचार नहीं करते हैं एवं अनात्म देह को ही अपना सत्य रूप जानते हैं । अतः अनित्य देह को सत्य मत मानो तभी तुम्हें आत्मा स्पष्ट होगी ।

जिन्होंने सद्गुरु कृपा से आत्मबोध कर लिया है और अपना देहाध्यास मनसे मिटा दिया है । वे अशिक्षित श्रद्धालु भी उन विद्वानों से अच्छे हैं, जिन्होंने आत्मा की खोज में अपने अहंकार को नष्ट नहीं किया है ।

जिन्होंने सत्य को जान लिया है उनके संग को भी सत्संग कहते हैं, क्योंकि वे जिज्ञासु को सत्य आत्मा का बोध करादेते हैं । सत अर्थात् आत्मा । आत्मा का निश्चय हो जाने का नाम वास्तविक सत्संग है ।

दुःख का निवारण हमें करना है । अविद्या के हटते ही आनन्द निरावरण हो जाता है । आनन्द हमारा स्वभाव है । आनन्द प्राप्ति हेतु हमें कुछ नहीं करना है । यदि आनन्द, मोक्ष, आत्मा, परमात्मा को प्राप्त माना जायगा तो वह फिर नष्ट हो जायगा । सत्य सदैव रहता है । जो कुछ करना है वह हमें केवल दुःख निवारण हेतु करना है । आनन्द हमारा

स्वभाव न होता तो सुषुप्ति में बिना विषय भोग के भी सभी को समान आनन्द, की अनुभूति नहीं होती किन्तु आनन्द की अनुभूति का सभी को अनुभव है । इसका अर्थ है जीव सुषुप्ति में अपने मूल शुद्धात्मा में रहता है ।

सुषुप्ति द्वारा तुम्हारा वहाँ का अनुभव है कि वहाँ तुम निराकार देहभान बिना थे । वही तुम अभी जाग्रत में भी हो फिर क्यों अपने को देह मानकर दुःख को निमन्त्रण देते हो ।

जप, तप, योग, यज्ञ, कर्म, त्राटक, माला, पूजा, आसन, प्राणायाम, कुण्डलिनी, चक्र, मुद्रा आदि साधन उन साधकों के लिये कर्तव्य रूप है जो मन्दबुद्धि वाले साधक सीधा आत्मविचार नहीं कर सकते हैं। उनकी बुद्धि को आत्मज्ञान धारण करने की शक्ति प्रकट करने के लिये हैं ।

विचारें ! यदि आप सोऽहम्, शिवोऽहम् जप करना चाहते हैं तो उसके लिये किसी कर्ता चेतन पुरुष की जरूरत होगी । वह कौन है ? वह मैं हूँ । बस मिल गया द्वार वहीं बने रहो यही सबसे सरल मार्ग है ।

अहं वृत्ति से मुक्त हो जाओ । जब तक 'मैं' जीवित है तब तक शोक, दुःख, भय, चिन्ता, ईर्षा है । जब मैं 'अहम्' नहीं रहता तब किसी प्रकार का दुःख नहीं रहता है । सुषुप्ति में किसी भी जीव को दुःख क्यों नहीं रहता ? क्योंकि वहाँ शुद्धात्मा का ही केवल अस्तित्व रहता है ।

कुआँ खोदने से जैसे पानी निकलता है इसी प्रकार विचार द्वारा आत्मा की अनुभूति होती है । आत्म विचार में संलग्न हो जाने से अनात्म विचार लुप्त हो जाते हैं । सब सन्तों व शास्त्रों का यही प्रयोजन है कि साधक अपने भूले स्वरूप की ओर वापस लौटे ।

आत्मा सदा विद्यमान है । तुम इसे जानो या न जानो । देहाध्यास दूर हो जाने से आत्मा अभी यहाँ व तुम्हारे रूप में प्रकट हो जाता है । 'मैं वही हूँ' ऐसा बोध हो जाने का नाम ही आत्म साक्षात्कार कहलाता है । अज्ञानी देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि की क्रियाओं के साथ मैं को मिलादेता है और परिणाम में जीव दुःख भोगता है ।

जिस क्षण में तुम विषयों द्वारा सुख प्राप्त हुआ–सा मानते हो, वह सुख आनन्द तुम्हारा ही है । तुम विषयों को निमित्त बना कर अज्ञान अवस्था में अपने आत्मा में ही डूबते हो । जैसे कुत्ते द्वारा हड्डी चबाने से उसे सुख प्राप्ति की भ्रान्ति होती है, उसी तरह तुम्हें भी पत्नी, पति, धन, सम्पत्ति, कार, कोठी, अलंकार, वस्त्र, मिष्ठान्न आदि द्वारा सुख प्राप्ति की भ्रान्ति होती है । वास्तव में मन को विषयों से मिलने वाला आनन्द तुम्हारा ही है ऐसे क्षणों में तुम अनजाने में आत्मा में ही डूबते हो किन्तु अज्ञानता से, हम अपने सुख को विषयों से मिलने वाला मान, उन पदार्थ या व्यक्ति को श्रेयता प्रदान करते हैं ।

संसार केवल हमारे मन में है । संसार यदि होता तो हमें सुषुप्ति में भी मिलता किन्तु वहाँ संसार किञ्चित् भी नहीं है । क्योंकि वहाँ संसार की भ्रान्ति पैदा करने वाला स्वयं मन ही नहीं है । अतः मिथ्या मन से उत्पन्न होने वाला संसार भी मिथ्या ही है । जैसे मन से उत्पन्न स्वप्न संसार सब मिथ्या है ।

अज्ञानी भक्त सबको परमात्मा मानता है व कहता भी है कि कण कण में भगवान् का वास है '' सिया राम मय सब जग'' किन्तु वह स्वयं में परमात्मा का वास नहीं मानता है । **अतः अपने को देह मानने वाला वह आत्म हत्यारा ही है एवं परमात्मा को अपने से भिन्न मानने वाला ब्रह्म हत्यारा ही है ।** परमात्मा साक्षात्कार का स्थान अपने अन्दर ही है । अज्ञानी भक्त इसे तीर्थ, मन्दिर, मूर्ति, स्थान विशेष में खोजता हुआ दुःख पाता है । देह भाव का त्याग कर आत्म भाव में रहे तो कोई दुःख नहीं है । वही महातीर्थ है ।

'अहं ब्रह्मास्मि' ऐसा कौन कहता है ? स्वयं ब्रह्मतो ऐसा कहेगा नहीं । सद्गुरु द्वारा यह **तत्त्वमसि** महावाक्य का उपदेश भी आत्मा को नहीं दिया जाता । यह उपेदश जीव अर्थात् चिदाभास रूप प्रतिबिम्ब को ही उसके बिम्बरूप चिदात्मा में अहंभाव रखने के लिये कहा जाता है ।

जब केवल शुद्ध मैं अवशेष रहेगा तब वह 'अहम् ब्रह्मास्मि' नहीं कहेगा । क्योंकि इसके अलावा कोई दूसरा है ही नहीं तब वह यह किसको सुनावेगा कि 'मैं ब्रह्म हूँ' । क्या कोई मनुष्य ऐसा कहता है कि मैं मनुष्य हूँ ? हाँ जब कोई दूसरा व्यक्ति उसके साथ मनुष्यता का व्यवहार न करे तब वह कहता है कि मैं कोई पशु नहीं हूँ मैं मनुष्य हूँ ।

इसी प्रकार शिवोऽहम्, सोऽहम् कहने की कोई जरूरत नहीं । क्योंकि यहाँ एक मैं के अतिरिक्त अन्य किसी की सत्ता ही नहीं, जिसे सुनाया जाय ।

जो समस्त नेति–नेति का निरसन करता है वह स्वयं को अस्वीकार नहीं कर सकता । मैं यह नहीं हूँ, मैं यह नहीं हूँ इसको कहने वाला मैं तो हर अवस्था में उपस्थित ही रहता हूँ । आत्मा से अहं भाव उदय होता है अहं भाव से मन उत्पन्न होता है मन से जाग्रत संसार उत्पन्न होता है जो जीव के बन्धन व दुःख का कारण है ।

जिसका तुम अनुभव करते हो उसका अन्त निश्चित ही है । जो सत्य है, वह सदा है, वह स्वयं है उसका अन्य पदार्थ की तरह किसी इन्द्रिय द्वारा अनुभव नहीं किया जा सकेगा । यदि परमात्मा अप्रमेय है और वह किसी इन्द्रिय द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सकता तो फिर ऐसा परमात्मा मैं रूप ही होगा क्योंकि 'मैं नहीं हूँ' ऐसा कोई अनुभव नहीं करते और मैं को यह रूप में प्रकट कर दिखा भी नहीं सकते ।

जब तुम रामायण, भागवत्, पुराणादि ग्रन्थों की लीला कथा को श्रद्धा विश्वास पूर्वक मानते हो तब उपनिषद के '**तत्त्वमसि**' **अहं ब्रह्मास्मि, अयमात्मा ब्रह्म, सोऽहम्, शिवोऽहम्** महावाक्यों पर विश्वास क्यों नहीं करते ?

इससे बड़ा आश्चर्य क्या होगा कि हम पुस्तको में आत्मा को खोजे । क्या वहाँ कागजों में, पुराण, शास्त्रों में, काली शाही में आत्मा मिलेगी ? आत्मा तो, यहाँ अभी व तुम हो । क्या दो आत्माएं हैं जो एक देखेगी और एक दिखाई देगी ? क्या दो आत्माएं हैं जो एक साक्षात् करने

की इच्छा करेगा व एक साक्षात् के लिये दूसरा आत्मा प्रकट होगा ? नहीं एक ही साक्षात् आत्मा है जो साक्षात्कार से पहले तुम ही हो । जो पहले से नहीं उस आत्मा को प्राप्त करने का क्या फायदा वह तो पुनः नष्ट हो जावेगी । जिसका मिलन या जन्म है उसका वियोग या नाश अवश्य ही होगा ।

यदि आत्मा शास्त्रों में होती तो ७५ वर्ष शास्त्र पाठी भारद्वाज ऋषि को प्राप्त हो जाता किन्तु जब इन्द्रने शास्त्र वासना से भारद्वाज ऋषि को छुड़ाकर आत्म ज्ञान कराया तब उनका मोक्ष हो पाया ।

जो साधक आत्म विचार करने में असमर्थ है, उसे अहंग्रह उपासना, ध्यान कराना पड़ता है । साधक अपने नाम, रूप को भूलकर सोऽहम्, अहं ब्रह्मास्मि, 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार का ध्यान करता है । तब उसे जिज्ञासा उदय होने पर वह वेदान्त श्रवण, मनन, तथा निदिध्यासन द्वारा स्वरूप ज्ञान सद्गुरु कृपासे प्राप्त कर लेता है । अन्ततः वह ब्रह्म ही अवशेष रह जाता है ।

आत्म निष्ठा करना ही श्रेष्ठ आसन है । मैं देह नहीं हूँ, रेचक प्राणायाम है और मैं आत्मा हूँ यही पूरक प्राणायाम है । फिर उस ब्रह्माकार वृत्ति की स्थिरता ही कुम्भक–प्राणायाम है । विवेकी लोगों के लिये प्राणायाम का यही सही तरीका है । अज्ञानियों के लिये घ्राण पीड़न ही प्राणायाम ।

**दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येत्ब्रह्ममयं जगत् ।**
**सा दृष्टिः परमोदारा न नासाग्रावलोकिनी ।।**

१/२९ तेजो बिन्दु उप./ ११६ अपरोक्ष अनुभूति

**नाहं देहो न च प्राणो नेन्द्रियाणि मनो नहि ।**

१०/४ जाबाल दर्शन उप.

**सदा साक्षिस्वरूपत्वाच्छिव एवास्मि केवलः**
**इति धीर्या मुनिश्रेष्ठ सा समाधिरिहोच्यते ।।** १०/५ जाबाल दर्शन उप.

**मैं देह नहीं हूँ, न मैं प्राण हूँ, न मैं इन्द्रियाँ हूँ, न मैं मन हूँ, मैं तो एकमात्र सदा साक्षी रूप होने से केवल हूँ । इस प्रकार की बुद्धि को सहज समाधि कहते हैं ।**

अहंकार के मूल को खोजो तो अहंकार नष्ट हो जावेगा तो आत्मा प्रकट हो जावेगी । जैसे बर्फ पिघलना ही जल प्रकट हो जाना है । अहंकार बर्फ की तरह है और आत्मा जल अधिष्ठान की तरह है ।

**हमारा स्वरूप :** आत्म सत्ता में मैं–तू, यह–वह, इन चारों का भेद नहीं है । यह चारों प्राकृत है और स्वरूप प्रकृति से अतीत सत्ता मात्र है यह चारों अनित्य, आधेय, प्रकाश्य है और सत्ता आधार, अचल, भावाभाव को जानने वाला, प्रकाशक, स्वयं प्रकाश है । पर अपने बदलने का अपने अभाव का, उत्पन्न–नष्ट, आने–जाने का अनुभव कभी किसी को नहीं होता है ।

मैं, तू, यह, वह, सब जड़ और दुःख रूप है पर चिन्मय ज्ञान सत्ता सत, चित, आनन्द रूप है । इस चिन्मय सत्ता में सबकी स्थिति है । सत्ता ज्ञान मात्र है । इस ज्ञान का कोई ज्ञाता नहीं अर्थात् ज्ञान है पर ज्ञानी नहीं है । जब तक ज्ञानी है, तब तक एकदेशीयता व्यक्तित्व है । एकदेशीयता मिटने पर एकमात्र ज्ञान ही निर्विकार, निरहंकार, सर्व देशीय सत्ता शेष रह जाती है । जो सबका सहज स्वरूप है ।

विकारी, विनाशी, दृश्य, जड़, देह संघात्, में मैं पन मिथ्या है, क्योंकि यह मैं पन क्षण–क्षण परिवर्तनशील है । यह सबका अनुभव है कि यह मैं पन बहुरूपियापना, मिथ्या, बनावटी है, एक दिन में कईवार यह मैं रूप अहंकार बदलता रहता है । देखो ! बाप के सामने यह मैं बेटा होता है और बेटे के सामने अहंकार अपने को मैं बाप कहता है । स्त्री के सामने पति एवं बहिन के सम्मुख मैं भाई, साले के सम्मुख मैं जीजा इत्यादि बन कहलाता है । यह जो बहुरूपियों की तरह बदलने वाला बनावटी मैं है इसको सत्य मानना ही बन्धन रूप है । वास्तव में शुद्ध मैं आत्मा न बाप है, न बेटा है, न भाई है, न पति है, न पत्नी है, प्रत्युत् इन सब में रहने वाली एक अखण्ड आत्मसत्ता है और यही हमारा सत्य स्वरूप है ।

मन कल्पित है, अतः उसका नाश नहीं करना है । जैसे अधिष्ठान रस्सी में कल्पित सर्प का नाश नहीं करना पड़ता है बल्कि उस भ्रम को प्रकाश द्वारा मिथ्या जानना ही उस सर्प का नाश है । इसी प्रकार अखण्ड आत्मज्ञान द्वारा मन के स्वरूप को मिथ्या समझने से वह सत्ताहीन अदृश्य हो जाता है ।

आनन्द कोई प्राप्त करने की वस्तु नहीं है । तुम स्वयं आनन्द हो । आनन्द की इच्छा अपनी पूर्णता का बोध न होने से ही होती है । यह पूर्णता के अभाव का भान अहंकार को है । अहंकार के मूल को खोजेंगे तो आत्मा ही मिलेगी आनन्द ही मिलेगा ।

I AM THAT I AM मैं, मैं हूँ । मैं हूँ से प्रत्यक्ष अन्य नाम परमात्मा का नहीं है ।

जीव वास्तव में आत्मा ही है किन्तु देह के साथ मिलकर संसार चक्र में भटकता है । इस भव बन्धन से छूटने हेतु आपको कोई साधन नहीं करना है । केवल भ्रान्त धारणा है कि मैं देह हूँ इस अनात्मा देह तादात्म्य को मन से तोड़ना है और अपने नित्य सहज आत्म भाव में रहना है ।

ऐसा कोई प्राणी नहीं जो आत्मा के बिना एक क्षण भी रहता हो । आत्मा ही तो प्रत्येक प्राणी का जीवन है । जब किसी बूढ़े व्यक्ति को किसी के द्वारा सताया जाता है तो वह अपने दाहिने हाथ को अपने वक्षस्थल हृदय पर रखकर कहता है कि मेरी आत्मा को मत सताओ । इस प्रकार अपने हृदय में आत्मा का भान सभी को होता है किन्तु अज्ञानी देह व मन के साथ मैं को मिलादेता है । मन के सुख–दुःख धर्म को आत्मा पर आरोपित करदेता है कि उसकी आत्मा को शान्ति नहीं मिलती । मेरी आत्मा को मत दुःख दो, मत सताओ ।

मन का स्वभाव उदय–अस्त, चन्चल–शान्त है तुम मन नहीं हो प्रत्युत् मन के साक्षी हो । आत्मा से भिन्न यहाँ कुछ भी अन्य नहीं अतः आत्मभाव में ही स्थिर रहो । यह देह, प्राण, मन जगत् ईश्वर आत्मा से पृथक् नहीं है । वे आत्मा से ही उदय एवं आत्मा में ही अस्त होते हैं ।

मैं असीमित समुद्र हूँ । उसी मैं समुद्र पर अहंकार एक बुलबुला मात्र है जिसे जीव कहते हैं । बुलबुला जल ही है । फूटने पर जल में ही मिल सागर रूप रह जाता है । बुलबुला सागर का एक अंश है । इसी प्रकार जीव ब्रह्म का अंश होने से ब्रह्म रूप ही है । आत्म ज्ञान होने पर यह जीव बुलबुला इसी आत्मा सागर में एक हो जाता है। जैसे घटाकाश महाकाश से भिन्न नहीं बल्कि महाकाश ही है ।

चैतन्य आत्मदेव हमें सदैव ही मैं रूप से उपलब्ध है प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि मैं हूँ । कोई भी अपने अस्तित्व को अस्वीकार नहीं करता कि मैं नहीं हूँ ।

**अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद परोक्षज्ञानमेव तत् ।**
**अहं ब्रह्मेति चेद्वेद साक्षात्कारः स उच्यते ।।** वराहोपनिषत् २/४१

ब्रह्म है ऐसा मानना तो ब्रह्म के सम्बन्ध में परोक्ष ज्ञान कहलाता है । और वह ब्रह्म मैं हूँ यह जानना ही साक्षात्कार कहलाता है ।

मैं देह हूँ यह मिथ्या ज्ञान समस्त अनिष्ट का मूल है इस मिथ्या ज्ञान को हटाना ही आत्मसाक्षात्कार है । केवल स्वयं की चेतना ही प्रत्यक्ष आत्मानुभूति है जो मैं के रूप में सदैव अनुभूति हो ही रही है फिर भी साधक देह को ही मैं मानता है । जबकि मैं देह नहीं हूँ और यह देह भी मेरा नहीं है । **'नाहं देहोऽहमात्मेति निश्चयो ज्ञान लक्षणम् ।'**पैगंल उप.

गुरु की सेवा गुरु दक्षिणा तुम क्या दोगे ? बस यही दक्षिणा तुम दे सकते हो कि तुम शाश्वत परम पद में स्थित रहो । इससे हट कर देह भाव, कर्ताभाव में न गिरो तथा जीवन में कम से कम एक व्यक्ति को आत्मज्ञान के लिये तैयार कर सका ।

सत्य मैं, गहरी निद्रा के समय रहता है उस समय मैं समस्त उपाधियों विशेषणों से रहित है । असत् मैं, जाग्रत स्वप्न में नाना उपाधियों से जकड़ा रहता है । अतः शुद्ध सत्य मैं के साथ अशुद्ध मैं के मिथ्या धर्मों को नहीं मिलाना चाहिये । सभी विशेषण मिथ्या मैं के है । जैसे मैं पण्डित हूँ, मैं ब्रह्मचारी हूँ, मैं संन्यासी हूँ, मैं इन्जीनियर हूँ, मैं डाक्टर हूँ

इत्यादि । सत्य मैं में कोई विशेषण उपाधि नहीं है ।

साधक भ्रम वश वृत्ति को ज्ञान समझलेता है । वृत्ति मन की एक दशा है । तुम न मन हो न मन की वृत्ति हो बल्कि वृत्ति के प्रकाशक हो। वृत्ति दृश्य है तथा चिदाभास का क्षेत्र सूक्ष्म शरीर के अन्तःकरण में कार्य करता है । यथार्थ ज्ञान सापेक्ष ज्ञान एवं अज्ञान से परे है । इसमें द्रष्टा–दृश्य की तरह सापेक्षता नहीं रहती यह अहंकार से परे है अहंकार का साक्षी है । वह आत्मा मैं हूँ ।

जो आत्मा से उत्पन्न होता है वह मन यथार्थ नहीं है । जैसे जल से लहर उत्पन्न होती है फिर जल में ही समाजाती है इसी तरह मन आत्मा से उत्पन्न होकर सुषुप्ति में आत्मा में ही लीन हो जाता है । यदि तुम मनको खोजने चलोगे तो तुम्हें मन नहीं मिलेगा आत्मा ही मिलेगा । जैसे अलंकार को खोजने चलोगे तो तुम्हें स्वर्ण ही मिलेगा ।

आत्मा से अधिक प्रत्यक्ष स्पष्ट सहज कोई नहीं है जो बिना इन्द्रिय के प्रतिक्षण मैं रूप में अनुभव में आ रही है । जो दिखने न दिखने तथा जानने न जानने को भी देख रहा है, जान रहा है, वह आत्मा तुम हो ।

हमारा जाग्रत वाला जीवन शाश्वत ब्रह्मसता का ही परिणाम है । क्या यह जाग्रत अवस्थावाला देह अभिमान आत्महत्या याने हिंसा नहीं है । इस प्रकार जो लोग देहाभिमानी है वे आत्म हत्यारे ही हैं । फिर अन्य की हत्या करना एवं अपने को देह मानना दोनों जीव हत्या समान है । प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि 'मैं हूँ' यह आत्मा के होने का प्रत्यक्ष प्रमाण है किन्तु अपने को देह मान लेता है कि मैं देह हूँ । यह असीम को सीमा में बांधना है, जो सब पापों का मूल है । इसी को आत्म हत्या कहते हैं ।

अहं ब्रह्मास्मि का तात्पर्य स्वरूप स्थिति से है । लगातार मंत्र जाप करने से कोई ब्रह्म नहीं होता है । इस का तात्पर्य यह है कि ब्रह्म अन्यत्र नहीं है वह तुम्हारी आत्मा है । इसी आत्मा को मैं रूप जानलो तो ब्रह्म प्राप्त हो जायगा ऐसा नहीं बल्कि तुम ही ब्रह्म हो ?

ब्रह्मको प्राप्त करने का इस प्रकार प्रयास कभी मत करना जैसे कि ब्रह्म कोई अनात्म पदार्थ की तरह अप्राप्त एवं दूरस्थ इन्द्रिय ग्राह्य विषय वस्तु है ।

यदि साधक अपने को द्रष्टा मानता है तो फिर उसे अपने से पृथक् दृश्य को मानना होगा । इससे तो अच्छा यही है कि साधक अपने को दृश्य एवं द्रष्टा दोनों का प्रकाशक जाने । अपने को वह पर्दा जाने जिस पर दृश्य व द्रष्टा दोनों प्रदर्शित होते हैं ।

'अहं ब्रह्मास्मि', 'ब्रह्म अहम्', 'मैं ब्रह्म हूँ' सीमित से परे असीम में जाना है । जो सद्भाव, करुणा, प्रेम, दया समता आदि सद्गुणों को जानने वाला है ।

सुषुप्ति में अहंभाव नहीं होने से किसी प्रकार का अहंकार, क्लेश, दुःख, चिन्ता, अशान्ति नहीं रहते हैं। जाग्रत में अहं के उदय से समस्त दुःख द्वन्द्व खड़े हो जाते हैं। यदि अहं के मूल को खोजे तो आनन्द स्वरूपात्मा ही रह जाती है ।

देखा जाता है कि मनुष्य से मनुष्य, पशु से पशु, पक्षी से पक्षी, वृक्ष से वृक्ष, पौधे से पौधा ही उत्पन्न होता है अन्यथा नहीं । इसी तरह हम ब्रह्म की सन्तान होने से ब्रह्म ही हैं । अथवा ऋषियों की सन्तान होने से हम भी ऋषि ही हैं । जैसे राम और कृष्ण पिता, माता से उत्पन्न हुए उनके पास चौदह इन्द्रियाँ थी । इसी तरह हमारा भी शरीर है । हमारे पास भी उसी तरह चौदह इन्द्रियाँ है । उनके पास जो आत्मा थी वही अद्वय आत्मा हमारे भी शरीर में विद्यमान है । इन सभी प्रकृति के द्वारा उन्होंने उन्नति की, तो फिर हम लोग उसी तरह उन्नति के शिखर पर क्यों नहीं पहुँच सकते ? यदि हम चेष्टा करें तो वही स्थितिका अनुभव अवश्य कर सकते हैं ।

जैसे अमेरिका, जापान, चायना, कोरिया ने विज्ञान में चमत्कारिक उन्नति की है तो भारत भी अपनी बुद्धि शक्ति लगा कर उन्हीं की तरह उन्नति कर दिखा रहा है । इसी तरह हम भी तो ऋषियों महर्षियों की

सन्तान है फिर हम भी क्यों नहीं उनकी तरह अपने को अहं ब्रह्मास्मि अनुभव कर सकेंगे ? अवश्य हम भी ब्रह्म है एवं ब्रह्मानुभूति कर सकते हैं। हमारे अन्दर अपार शक्ति का भण्डार छुपा पड़ा है हम उसकी चाबी भूल चुके हैं ।

मनुष्य जीवन मिलगया अब परमात्मा से शिकायत किस बात केलिये करोगे । मुक्ति पाने का अधिकार मिलगया । गलती तुम्हारी है जो ज्ञान मार्ग छोड़ अन्यमार्ग पर चलते हो । तुम चाहो तो उर्ध्वगति पा सकते हो, तुम चाहो तो अधोगति पा सकते हो ।

जो शत्रुभाव रख मरता है वह कर्म संचित् में चला जाता है फिर तुम्हें शत्रु के योनि में, ग्राम में जाकर उसका फल भोगना होगा । यदि शत्रुभाव, क्रोधभाव को जीवित अवस्था में समाप्त नहीं किया तो वह भयंकर रोग, पीड़ा दुःख बनकर भोगने को मिलेगा । यदि परमात्मा के चिन्तन में देह की मृत्यु हो गई तो यह परमात्मा को ही प्राप्त होता है ।

**यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरं ।**
**तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ।।** ८/६ : गीता

**अद्वितीयंब्रह्मतत्त्वं न जानान्ति यथा तथा ।**
**भ्रान्ता एवाखिलास्तेषां क्व मुक्तिः क्वेह वा सुखम् ।**

२/५७ बराह उप.

जो पण्डित चार वेद, षड्दर्शन का ज्ञाता है, बड़े–बड़े अश्वमेध यज्ञ करने वाला है बहुत कठिन तप, व्रत, उपवास करने वाला, नाना देवी देवता की उपासना करने वाला भी है किन्तु वह अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व को मैं रूप से नहीं जानता है, वह सब भ्रान्त मनुष्य है । उन सबको यहाँ मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकेगी और सुख मिल सकेगा ।

# किसको किसने बान्धा है ?

एक मनुष्य एक वृक्ष की डाल को पकड़ कर लटक जावे व चिल्लाकर कहे मुझे बचाओ, मुझे छुड़ाओ, इस डालने मुझे पकड़ रखा है । सुनने व देखने वाले लोग कहेंगे कि यह कैसा मूर्ख है खुदने ही डाल को पकड़ा है, डाल मनुष्य को कैसे पकड़ सकेगी ? वह तो जड़ है यह मनुष्य छोड़ना चाहे तो छूट जायेगी ।

ठीक यही दशा आपकी है । आप कहते हैं स्वामीजी मुझे संसार से मुक्त करादो । संसार ने मुझे जकड़ रखा है । अब आप स्वयं सोचें कि संसार को आपने पकड़ा है कि संसार आपको पकड़े हुए हैं ? आपने ही देह व देह सम्बन्धी व्यक्तियों में अहंता–ममता बना रखी है । यदि उनमें से कुछ छूटना चाहे या मृत्यु हो जावे तो भी उसके लिये याद कर करके जीवनभर रोते रहते हो । तो आपने ही उन्हें ममता की डोर से बांध रखा है । आपने ही जड़ सम्पत्तियों को भी कोर्ट, कचहरी, वकील के माध्यम से अपने अहंकार से बांध रखा है । आपकी सन्तान, धन, सम्पत्ति लेना चाहे तो अपने जीवित अवस्था काल में बटवारा कर देना भी नहीं चाहते हैं । नौकरी आपने ढूंढी है, नौकरी आपने पकड़ी है आप छोड़ना चाहें छोड़ सकते हैं । सुनने वाले, देखने वाले लोग कहेंगे कि अरे पागल ! तूने उन्हें पकड़ा है, तू छोड़ दे तो वे तुझसे दूर चले जावेंगे ।

आप हाथ में पेन, पुस्तक, अखबार, ग्लास पकड़े हुए हैं यह सब तो जड़ है आप चेतन है, आपने इन्हें पकड़ा है । क्या मृत पुरुष किसी भी वस्तु को पकड़ सकता है ? आपने ही देवी–देवता माला, पूजा, नमाज रोजा, व्रत उपवास, डोरा, ताविज, कंठी, राम नाम की चादर, तिलक

पकड़े हुए हैं या इन सब जड़ पदार्थों ने तुम चेतन को पकड़ रखा है ? तुम अभी छोड़ दो तो यह तुम्हारे ऊपर बलात् नहीं चढ़ सकेंगे ।

इसी तरह काम–क्रोध, राग–द्वेष को तुमने पकड़ा है यह जड़ वृत्तियाँ तुम चैतन्य को कैसे पकड़ सकेगी ? लोग कहते हैं हमसे सिगरेट शराब, मांस, अंडा, चाय, भांग, गुटखा नहीं छूटता । यह हमारे सोचने की ही कमी है । यह संसार के सभी पदार्थ जड़ है और आप चेतन पुरुष ने इन्हें पकड़ा है यह आपको नहीं पकड़ते हैं । आपने ही आदत डाली है, आप चाहें तो छोड़ सकते हैं । आप स्वयं संसार को पकड़े हुए हैं और चिल्ला रहे है कि हमें संसार ने पकड़ा हैं ।

एक व्यक्ति कहता है इस गाय ने, कुत्ते ने, तोते ने मुझे बांध रखा है मैं कहीं नहीं जा पाता हूँ । अब देखो तोते को खुदने पिन्जरे में डाल रखा है । उसकी खिड़की स्वयं ने बन्द कर रखी है कि कहीं उड़ न जावे । गाय को खूंटे से बाध रखा है कि कहीं भाग न जावे । कुत्ते को जंजीर से बांध रखा है कि भाग न जावे। यह तोता, कुत्ता, गाय जाना चाहते हैं किन्तु मनुष्य उन्हें अपने स्वार्थ के लिये बांधता है ।

देवी–देवता, धन–दौलत, घर–द्वार, खेत–खलियान कोई हमें बांधे हुए नहीं है, कोई हमें बन्धन में नहीं डाल सकते । हम स्वतन्त्र होना चाहे तो अभी हो सकते हैं ।

इसी प्रकार सभी वृत्तियाँ जड़ है, हम चेतन हैं यह हमें नहीं बान्ध सकती । हम ही इन्हें अपना रूप मान कर दुःख भोग रहे हैं ।

यदि अज्ञानी व्यक्ति एक पत्थर, मिट्टी, लकड़ी से बनी मूर्त्ति में ईश्वर की भावना कर अपने मनोरथ पूर्ण करलेता है । तब उच्चकोटि के महापुरुष अपने में सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान मुक्त आनन्द की भावना कर अखण्डानन्द को प्राप्त क्यों नहीं कर पायेगा ? अवश्य कर पावेगा क्योंकि यह तो इसका जन्मजात स्वभाव ही है।

जब यह मनुष्य आत्मज्ञान का चिन्तन करेगा तभी इसे अपने, सच्चे स्वरूप में स्थिति हो सकेगी । स्वावलम्बी और स्वतंत्र विचार सारी उन्नतियाँ का मूलमंत्र है ।

परन्तु संसार में ऐसे लोग बहुत है जो अपनी बुद्धि को किसी सम्प्रदाय, मत व मजहब में बांध चुके हैं । ऐसी बन्धि बुद्धि साम्प्रदायिक चक्रों और पाठचक्र मजहबी केंद्रों से निकल कर आगे नहीं बढ़ सकती । हमारी बुद्धि आगे बढ़ना चाहती है किन्तु पुराने अन्ध विश्वास की जंजीरे, सूत्र, तावीज उसे आगे नहीं बढ़ने देती है।

सुषुप्ति में अहंभाव अर्थात् मिथ्या मैं का लोप हो जाता है इसलिये संसार का भान नहीं रहता । सुषुप्ति में मिथ्या मैं का मूल स्त्रोत मैं ही वास्तविक मैं हूँ, जो संसार के ज्ञान–भान से रहित शुद्ध चैतन्य मात्र है ।

मन का अधिष्ठान ''मैं'' सदैव विद्यमान रहता है । उसी से नाना प्रकार के संकल्प एवं दृश्य उदय होते हैं । प्रत्येक संकल्प के साथ एक झूठा मैं उदय होता है और संकल्प के हटने के साथ ही उस झूठे मैं का भी नाश हो जाता है । इस प्रकार प्रतिक्षण अनेक उपाधिवान् मैं उत्पन्न होते हैं और पानी के बने बुद्बुदा की तरह नष्ट होते रहते हैं । यह जाग्रत, स्वप्न का मैं झूठा है एवं सुषुप्ति का मैं ही सत्य है ।

सुषुप्ति में तुम्हारा देह के साथ किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं था । जाग्रत में भी तुम अभी वही निराकार, असंग आत्मा हो । अतः उसी सुषुप्ति अवस्थावत् असंग, निष्क्रिय रूप में क्यों नहीं रहते ? सत्य सदा एक रस रहता है। वह तुम ही एकमात्र हो ।

वैराग्य का मतलब यह नहीं कि वह अपना खाना–पीना काम–धन्दा, बन्द करदे, रोग होने पर दवा न लेवे । घर छोड़ जंगल चला जावे, वस्त्र त्याग नग्न रहे । प्रत्युत्– सब कर्मों से कर्तापन के अहंकार का त्याग ही सच्चा संन्यास, सच्चा वैराग्य है । मैं कर्ता हूँ यह भाव ही बन्धन रूप है । जिसे अपने आत्म स्वरूप का दृढ़ बोध हो जाता है तब उस ज्ञानी द्वारा जो भी कर्म होता है उन कर्मों का उस पर किसी भी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता है। उसका प्रत्येक कार्य जीव कल्याण की दृष्टि से ही होता है । वह कर्म का त्याग नहीं, भोग का त्याग नहीं बल्कि कर्तापन व भोक्तापन के अहंकार का त्याग करता है । ज्ञानी को कर्मों में कर्तापन व

भोगों में भोक्तापन का अभिमान नहीं रहने से वह सदा मुक्त है ।

**प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।**
**अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।।** ३/२७ : गीता

अज्ञानी व्यक्ति प्रकृति, गुणों के द्वारा होने वाले कर्मों में मैं कर्ता हूँ ऐसा मिथ्या अभिमान कर देह, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि के कर्मों में मैं भाव जोड़, परधर्मों को स्वधर्म मान बन्धन को प्राप्त हो जाता है ।

**यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।**
**हत्वापि स इमाँल्लोकान्नहन्ति न निबध्यते ।।** १८/१७ गीता

किन्तु ज्ञानी पुरुष किसी कर्म में मैं कर्ता हूँ तथा मैं कर्म फलों का भोक्ता हूँ ऐसा मिथ्या अभिमान कभी नहीं करता है । इसलिये ज्ञानी का जीवन मुक्त ही होता है । उसके द्वारा जीवन पर्यन्त होनेवाले कर्म बन्धन रूप नहीं होते हैं। जब कि अज्ञानी का यह सोचना कि अब मैं कर्म करना बन्द कर देता हूँ । ऐसा सोचना ही उसका कर्म बन जाता है और वह कर्म न करते हुए भी बन्धन को ही प्राप्त होता है ।

**नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।**
**गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ।।**१४/१९ गीता

ज्ञानी सभी कर्मों को सत, रज, तम गुणों के द्वारा सम्पादित देखता है और अपने को मैं कर्म का कर्ता नहीं हूँ ऐसा जानता रहता है ।

अहंब्रह्मास्मि, सोऽहम्, शिवोऽहम् चिन्तन द्वारा अपनी व्यष्टि चेतना को समष्टि चेतना से एक जानले और कुछ बाहर से बनने की चेष्टा मत करो कि मैं यह हूँ, वह हूँ । शरीर बोध से हटो व आत्मबोध जाग्रत करो क्योंकि अन्तर्मुखी होंगे तभी आत्म बोध होगा । शरीर बोध से अनन्त जीवन बिगड़ गये अब आत्मबोध का सीधा रास्ता अपनाओ । निरन्तर शिवोऽहम्, सोऽहम्, नित्योऽहम्, शुद्धोऽहम्, बुद्धोऽहम्, मुक्तोऽहम् इस भाव को मन में उतारो ।

# प्रारब्ध क्या है ?

यदि कोई ज्यादा दुःखी है तो वह अपने दुःख को कम करने के लिये गाली देता है, मार पीट करता है, झगड़ा करता है यह उसकी मजबूरी है यह कष्ट से छूटने का क्षणिक गलत रास्ता है। यह उपद्रव उसका संचित् में चला जावेगा और उसे फिर इस नूतन कर्म का फल भी भोगना पड़ेगा ।

तुम किसी सामने वाले की गाली स्वीकार करने को बाध्य नहीं हो । तुम उसको बुरा मत मानो, तो वह गाली तुम्हें मान लेने के लिये मजबूर नहीं कर सकेगी । उसने अपना काम कर लिया गाली देने का, थूकने का पर तुम उसे क्यों स्वीकार करते हो क्यों चाटते हो ? याने तुम उस गाली को अपने मन में क्यों भरते हो ?

आपको यदि कोई अपमान या सम्मान, सुख या दुःख देने आ रहा है तो यह आपके ही पूर्व जन्मों के कर्म का प्रारब्ध भोग है । जो पूर्वजन्म में तुम्हारा मित्र या शत्रु था वही अब मित्र व शत्रु बनकर तुम्हारे प्रारब्ध कर्म को भुगवाने के लिये आया है जो तुमने पहले जन्म में उसे दिया था ।

वही विचार लेकर वर्तमान में रहो जो विचार द्वारा सुख उत्पन्न हो । जिस विचार से दुःख उत्पन्न होता है, उन विचारों को, बीती घटना को मन व आखों के सामने वर्तमान में घसीट कर मत लाओ । यदि कोई दुःखी–उदास दिखाई पड़े तो उसकी मदद करने की भावना आना चाहिये । यह धन जो तुम्हारे जेब में आज है कल किसी और के जेब में था और आने वाले कल में किसी और का हो जावेगा ।

किसी के बारे में अच्छा सोचना बुरा कभी मत सोचना । बुरा सोच रहे हो तो यह पाप कर रहे हो। बुरा सोचा तो वर्तमान को मैला कर रहे हो । हमेशा अपने को सावधान करते रहो देखते रहो कि मैं अच्छा सोच रहा हूँ कि बुरा ? भविष्य व भूत का विचार करने से वर्तमान मैला हो जाता है । जबकि मेरा स्वरूप तो शुद्ध एवं आनन्द है । वर्तमान में नित्योऽहम्, शुद्धोहम् चिन्तन करो तो कभी मैल नहीं आ सकेगी । जैसे जीव का मन शुद्ध हुआ कि मन शरीर बोध से हटकर आत्म बोध की ओर बढ़ने लगेगा। जिस दिन तुम भूत व भविष्य को छोड़ वर्तमान में जीने लगोगे उसी दिन तुम शुद्ध हो जाओगे। वर्तमान में स्थित हो जाने से न पुण्य होगा न पाप।

भूत व भविष्य का सोचने से मैल चढ़ता है । अतः अब मैं कर्ता–भोक्ता भाव से कर्म नहीं करूँगा अब मेरे द्वारा लीला होगी जैसे राम व कृष्ण का जीवन लीलामय था ।

मन में मैल तब आता है जब कोई भूत काल की दुःख रूप घटना को वर्तमान में सोचने लगता है । जैसे बेटे का, पति का, पत्नी का, पुत्री का मरना, धन्दे में घाटा, किसी से पहले सुनी गाली, किसी से शत्रुता बान्ध उसे सोच कर मन मैला कर देते हैं । और उन बीती घटना को वर्तमान में सोच–सोच हम आने वाले भविष्य को भी मैला कर देते हैं । जो अभी भविष्य आया ही नहीं उस मैल को वहाँ पहुँचा देते हैं कि तुम वहाँ पहुँचो मैं जब भविष्य में पहुँचूँगा तब मुझे वहाँ अच्छे से दुःखी कर देना, मैला कर देना, मुझे मिल जाना । यह जीव भूतकाल का दुःख सोच–सोच कर भविष्य में भी पहुँचा देता है, अगले जन्म में भी पहुँचा देता है।

जिस दिन तुम्हें शरीर बोध से आत्मबोध हो जावेगा उस दिन तुम मुक्त हो जाओगे। साक्षी भाव में रहकर आनन्द का अनुभव करोगे फिर तुम्हारा जीवन कर्ममय नहीं बल्कि लीलामय होगा । तुम अवतारी पुरुष हो, कर्म करने नहीं लीला करने आये हो । स्वभाव से तुम मुक्त हो ही किन्तु बुद्धि पर अज्ञान का परदा पड़ जाने से अपने को बद्ध जीव जानने लगगये हो ।

तुम्हारे साथ जो भूतकाल में घटना घटी, किसीने तुम्हें दुःख दिया उसे वहीं छोड़ दो । तुम उसे वर्तमान में घसीट कर मत लाओ वर्तमान अमृत स्वरूप है, उसमें भूत व भविष्य का विष न घोलो, हर क्षण नित्योऽहम्, शुद्धोऽहम्, बुद्धोऽहम्, मुक्तोऽहम् का चिन्तन करो ।

अगर वर्तमान में दुःख का चिन्तन करोगे तो वर्तमान को तो तुम बिगाड़ ही रहे हो साथ–साथ भविष्य भी दुःख रूप बनाने का बीज बो रहे हो । अगर वर्तमान में सुख पूर्वक जीना सीख लिया तो भविष्य में भी आज का बोया सुख ही काटने को मिलेगा ।

मानव की कैसी नादानी है जो घटना अभी घटी नहीं उस बीमारी, नुकसान, अपमान, मुत्यु, चोरी की घटना को सोच–सोच कर वर्तमान के आनन्द को भी नष्ट करदेते हैं ।

विचारो कि हम वास्तव में कितनी बार मरते हैं ? बार–बार कि एक बार ? यदि एक बार फिर तुम कितनी बार मृत्यु का चिन्तन कर, भय कर दुःखी होते हैं । क्योंकि हमें या तो भूत में रहने की आदत है या भविष्य के बारे में सोचने की आदत है । हम वर्तमान में तो रहते ही नहीं । कितनी बार चोरी होती है ? एकबार या बारबार और तुम कितनी बार चोरी का भय करते रहते हो ?

यह जीवन जो तुमने पाया है उस पर विचारो कि इसे परमात्मा ने क्यों दिया है ? क्या मैंने वह कार्य करलिया है, जिसको करने, पाने, अनुभव करने, जानने को यह देव दुर्लभ शरीर मिला है ? यदि नहीं तो तत्काल आलस छोड़ उठो एवं किसी सद्गुरु की शरण में जाकर अपने भूले स्वरूप को पहचान लो ।

वर्तमान में बैठे भूतकाल का चिन्तन कर वहाँ कुछ नहीं कर सकेंगे । भविष्यकाल का चिन्तन करके नूतन कुछ नहीं मिलेगा । आज जो किया हुआ है वही भविष्य में प्रारब्ध बन कर फलित होता है ।

हमें वर्तमान अपने उद्धार करने को मिला है । वर्तमान में बैठ हम भूत व भविष्य में कुछ नहीं कर सकेंगे । अतः वर्तमान में अच्छा विचार,

अच्छा कर्म करे, प्रेम करे, दया करे, दान करे, गरीबों को वस्त्र दे, भोजन करावे । क्षमा करे, प्रेम करें, समता रखे । यह बीज हमारा भविष्य बन कर अनेक गुन ज्यादा भोगने को मिलेगा ।

मन मैला भी वर्तमान में होता है और मन शुद्ध भी वर्तमान में होता है । मेरे जीवन में अभी दुःख आया है तो मैंने भूतकाल में ऐसा किया था वही वर्तमान में प्रारब्ध बन कर आया है । अब मैं किसे दोष दूँ मैं अपने भूतकाल में किये हुए कर्मों का ही वर्तमान में फल भोग रहा हूँ । मैं ही अपने जीवन के सुख–दुःख का निर्माता हूँ ।

याद रखो ! परमात्मा किसी को अपनी तरफ से न दुःख देता है न सुख देता है । जो तुमने भूत काल में बोया है वह अभी काट रहे हो और अब जो सुख या दुःख के नूतन बीज बो रहे हो वह फिर भविष्य में फलित होकर भोगने को मिलेगा । परोपकार रूप अमृत के कार्य बीज व शुभ विचार बोओ तो आनन्द फलित होगा । दूसरों को दुःख देनेवाले विषाक्त कर्मों व विचारों का त्याग करो तो दुःख का स्वतः त्याग हो जावेगा।

विचारो ! तुम्हें कौन दुःखी करता है, कौन बान्धता है ? तुम्हारा देहाभिमान के अतिरिक्त तुम्हें दुःख देने वाला, बान्धने वाला कोई नहीं है । अन्यथा मुझ आत्मा के समान कोई धनवान्, ऐश्वर्यवान् आनन्दघन कोई नहीं है ।

मैं ब्रह्म हूँ इस विचार से यदि अपने को देहभाव से मुक्त न जाना तो क्या त्याग कर, संन्यास लेकर, ध्यान कर तुम मुक्त हो सकोगे ? विस्मृत नित्य सिद्ध स्वरूप का विचार किये बिना तुम साधन द्वारा नित्य मुक्त नहीं हो सकोगे ।

बड़ी लम्बी पूजा, पाठ, जप, माला, ध्यान करके अपने को महान् माने अहंकार के घोड़े पर बैठे हो किन्तु मन की दशा, मन की समझ नहीं बदली। **वही देह में मैं भाव बना हुआ है**, जो दुःख व बन्धन का कारण है ।

बन्धी नौका को जीवन भर चलाओ वह वहीं तैरती रहेगी । पिन्जरे का पक्षी सारे जीवन वहीं बन्धा रहेगा । बन्धा पशु सारे जीवन वहीं

खड़ा रहेगा । कोई भी आगे नहीं जा सकेगा । इसी प्रकार अज्ञान में बन्धा, अन्धविश्वासों में बन्धा जीव भी कभी मुक्त नहीं हो सकेगा । रूढ़ीवादों के कूप में पड़ा व्यक्ति स्वतन्त्र विचार नहीं कर सकेगा । पशु बन्धन को नहीं पहचानते हैं और न अपने बन्धन को खोल ही पाते हैं, पूरे जीवन बन्धे तड़फते रहते हैं । पुरी ताकत लगा निकल नहीं पाते हैं । मनुष्य भी यदि अपने बन्धन को पहचानते हुए या किसी दयालु सद्गुरु के बताने पर भी खोलने की चेष्टा न करे तो उसे मनुष्य रूप में पशु ही जानना चाहिये ।

जीवन भर अपने को द्रष्टा, साक्षी आत्मा कहें किन्तु हमारी आसक्ति, देहभाव में जुड़ी है तो इस जीवन में हम मुक्त नहीं हो सकेंगे । बार–बार जन्म–मृत्यु को प्राप्त होना पड़ेगा ।

# देवता का पशु कौन है ?

**अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्यो ऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवँ स देवानाम् ।** बृहद. उप. १/४/१०

जो सकामी भक्त जिस देवता की भिन्न रूप से उपासना करता है कि यह आराध्य देव मुझसे भिन्न है और मैं उससे भिन्न हूँ वह अज्ञानी परमार्थ तत्त्व को नहीं जानता है । जैसे लोक में भारवाही पशु होते हैं वैसे ही यह दृढ़ भेदवादी उपासक उन देवताओं का पशु होता है ।

**अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।**
**देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ।।**७/२३ गीता

परन्तु उन अल्पबुद्धि वालों का वह देवता द्वारा प्रदान किया हुआ फल नाशवान् है । वे देवताओं को पूजने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं और आत्मा को सोऽहम् रूप से भजने वाले परमात्मा को ही प्राप्त होते हैं ।

**येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।**
**तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ।।**९/२३ गीता

किन्तु उन देवताओं की उपासना करने वाले भक्तों को देवताओं से मिलने वाले फल नाशवान् होता है तथा देवता की पूजा करने वाले भक्त मंदबुद्धि वाले एवं अज्ञानी ही होते हैं ।

**नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः ।**
**मुढोऽयं नाभिचानाति लोको मामजमव्ययम् ।।** – गीता : ७/२५

बुद्धि हीन पुरुष मेरे अजन्मा, अविनाशी, नित्य, आत्म स्वरूप की 'वह ब्रह्म मैं हूँ' इस रूप से उपासना, अहंग्रह ध्यान नहीं करते हैं, प्रत्युत् मन, बुद्धि से अति दूर मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मा को सगुण–साकार मनुष्य की भाँति जन्मने–मरने वाले मानते हैं ।

हे अर्जुन ! मैं अपनी योग माया रूप राम, कृष्ण, दुर्गा, गणेष आदि परदे के पीछे छिपा रहने के कारण सबके प्रत्यक्ष नहीं होता हूँ । जैसे बुरखे में रहने वाली महिला या डाकू सबको देखती है, देखता है किन्तु उसे कोई नहीं जानता है कि वह बुरखे भीतरवाला पुरुष है, महिला है या नपुन्सक है, गोरा–काला है या बूढा–जवान है। परन्तु वह बुरखेवाली सभी को देखती रहती है ।

**अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।**
**परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ।।**

– गीता : ७/२४

यह अज्ञानी समुदाय मुझ जन्म रहित अविनाशी परमेश्वर को नहीं जानता अर्थात् मुझे सगुण–साकार मनुष्य की भाँति जन्मने–मरने वाला जानते हैं इसीलिये वे भी बारम्बार जन्म–मृत्यु को प्राप्त होते रहते हैं ।

**अहं हि सर्व यज्ञानां भोक्ता च प्रभूरेव च ।**
**न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ।।** गीता ९/२४

क्योंकि सम्पूर्ण यज्ञों का भोक्ता और स्वामी भी मैं ही हूँ, परन्तु मुझ परमेश्वर को तत्त्व से वही जानते हैं इसलिये वे गिरते हैं । अर्थात् पुनर्जन्म को बार–बार प्राप्त होते हैं किन्तु मेरे भक्तों का पुनर्जन्म नहीं होता है ।

**यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रताः ।**
**भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ।।**

– गीता : ९/२५

देवताओं को पूजनेवाला देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितरों को पूजनेवाला पितरों को प्राप्त होते हैं,भूतों को पूजनेवाले भूतों को प्राप्त होते हैं और मुझ आत्मा को पूजनेवाला ज्ञानी मोक्ष को प्राप्त होता है । इसीलिये ज्ञानी का पुनर्जन्म नहीं होता ।

**असप्रभु छाड़ि भजहिं जे आना ।**
**ते नर पशु बिन पूंछ विशाना ।।** – रामायण

जो सबके हृदय में स्थित सर्व प्रकाशक, सर्वाधिष्ठान, स्वयंप्रकाश, जीवनाधार परमात्मा को छोड़ बाह्य कल्पित देवताओं की उपासना आराधना करता है वह तो बिना सींग व पूंछ का प्राणी है ।

# साक्षी ही सत्य है

मैं वह ज्योती हूँ जो अन्धेरे व प्रकाश दोनों को देखता हूँ । जड़ ज्योति दिखाने वाले बहुत गुरु अपनी दुकाने, शिबिर, क्लास लगाये बैठे हैं । पर इस चेतन स्वयं ज्योति को कोई बिरला सद्‌गुरु ही देखता है । जिस ज्योति से सब देखा जाता है, वह स्वयं ज्योति साक्षी तुम हो । सदा रहने वाली ज्ञान ज्योति का नाम ही परमात्मा है ।

**ज्योतिषामपि तज्ज्रयोतिस्तमसः परमुच्यते ।**
**ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ।।** १३/१७ : गीता

अज्ञानी लोग उसे देखते हैं, नमस्कार करते हैं जो सदा नहीं रहता । उसे कोई नहीं विचारते जो सदैव रहता है । उसे कोई नहीं नमस्कार करते हैं जो अपने हृदय में ही मैं रूप में सदा प्रकट रहता है । ज्ञानी सदा न रहने वाले अनित्य, जड़ को नमस्कार नहीं करते हैं ।

सब दुनियाँ को असत् दिखाकर एक साक्षी निजात्मा का ही सत्य अनुभव करादेने वाला ही सच्चा सद्‌गुरु है ।

हजारों वर्षों की जड़ समाधि से एक क्षण का ब्रह्म विचार में ठहर जाना सर्वोत्तम है ।

जब सद्‌गुरु मिला तब पता चला कि मैं वही अचल सनातन हूँ । जो अपने को बदलने वाला शरीर, मन, बुद्धि मानता है वह मूढ़ है । अलंकार के आदि व अन्त में स्वर्ण सत्य है । बनने व टूटने वाले अलंकार सत्य नहीं है । स्वर्ण पर लोगों की दृष्टि नहीं पड़ती है अलंकारों को ही सब देखते, जानते रहते हैं । घड़े के बनने टूटने पर सबकी दृष्टि होती है पर

अधिष्ठान अर्थात् उपादान कारण मिट्टी को कोई नहीं देखते हैं । जो जन्म–मरण से रहित बनने, टूटने से रहित है, उस पर सबकी दृष्टि नहीं पड़ती ।

साक्षी सबमें रहता है साक्षी के बिना कोई एक क्षण भी नहीं रह सकता । साक्षी में सब रहते हैं, साक्षी सर्वत्र स्वतन्त्र है ।

बिना साक्षी के मन, इन्द्रिय, प्राण दृश्य नहीं हो सकते अन्यथा इन सभी दृश्यों एवं वृत्तियों के भाव–अभाव का पता कैसे लगता ? तुम्हारे देह संघात् के तुम ही साक्षी हो अन्य नहीं । खोजना हैं साक्षी को । कहाँ खोजे ? जहाँ साक्ष्य है जहाँ देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि है वहीं साक्षी है।

**देख ! देख ! देखने वाले को भी देखते रहो**

**जान ! जान ! जानने वाले को भी जानते रहो**

जो प्रतिक्षण इनकी खबर देता रहता है। चल में अचल को, दृश्य में द्रष्टा को, जड़ में चेतन को, शव में शिव को, क्रिया में निष्क्रिय को खोजे तो वहाँ तुम अपने को ही पाओगे । जहाँ अपने को पा लिया वहीं तुमने साक्षी, शिव को पा लिया । अब हो गया भजन, हो गई मुक्ति, हो गई समाधि।

साक्षी मिलातो मन खोगया । मन जागा तो साक्षी अदृश्य होगया । मिट्टी देखी तो घड़ा अदृश्य होगया, घड़ा देखा तो मिट्टी अदृश्य हो गई कारण पर दृष्टि ही यथार्थ दृष्टि है कार्य पर दृष्टि पड़ते ही कारण लुप्त हो जाता है । स्वर्ण पर दृष्टि पड़ी तो अलंकार मिट गये व अलंकार पर दृष्टि पड़ी तो स्वर्ण वहीं छुप गया ।

परिवर्तनों को देखना, नाम, रूप को देखना अज्ञान नहीं है किन्तु अपने को तथा परिवर्तनों को जानने वाला अपरिवर्तनशील साक्षी आत्मा को जानना ही ज्ञान है । सत्गुरु ने अलख लखाया कि जो सब को देख रहा है, दिखा रहा है, वह अलख पुरुष मैं ही हूँ । जो सबको दिखाता है उस दिखाने वाले को भी मैं रूप देखलेना, जानलेना ध्यान है । यही आत्म साक्षात्कार है । लोग दृश्य देखने में ही अटक जाते हैं, वहीं रुक जाते हैं। लेकिन सबको देखने वाले, जानने वाले मैं की तरफ लौटना, देखना ही

भूल जाते हैं। इसलिये सद्गुरु अपने शिष्यों को सावधान करते हैं कि – देख ! देख ! देखने वाले, दिखाने वाले की तरफ तो देख कि वह भीतर कौन बैठा है जो सब दृश्य को देख रहा है और दिखा रहा है । जान ! जान! जानने वाले को तो जान कि तेरे इस जड़ देह के भीतर कौन बैठा है जो बाहर भीतर के सब अनुभवों, दृश्यों, परिवर्तनों को जान रहा है ? विचार करने से पता लगेगा कि वह मैं ही अचल, साक्षी, द्रष्टा, आत्मा हूँ । परन्तु यह बोध पहले नहीं था कि मैं अचल साक्षी हूँ । पहले तो मैं देह के रूप में मानता था जहाँ देह वहीं मैं भ्रान्ति हो रही थी कि मैं जवान, बूढ़ा, जन्मने–मरने वाला और कभी जैसा मन वैसा ही मैं अपने को मान लिया जाता है। मन चंचल, मन कामी, क्रोधी होता है किन्तु अज्ञानता से मन, बुद्धि के धर्मों के साथ सदा तादात्म्य करके जीव अपने को मैं चंचल, मैं कामी, मैं क्रोधी मानता है।

आत्म साक्षात्कार ही ब्रह्म साक्षात्कार है । ब्रह्म वस्तु आत्मा से भिन्न नहीं है । पौधे का दर्शन ही बगीचे का दर्शन है । बगीचा पौधे के सिवा कोई पृथक् दृश्य वस्तु नहीं । वृक्ष दर्शन ही जंगल का दर्शन है, जंगल वृक्ष के अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है । इसी प्रकार व्यष्टि चैतन्य का सोऽहम् रूप से साक्षात्बोध होना ही समष्टि परमात्मा का बोध है । समष्टि चेतन हम से पृथक् व्यक्ति की तरह दिखने को, प्रकट होने वाला नहीं है । ब्रह्म का तो परोक्ष ज्ञान ही होता है विश्वास कर ही मान लेना पड़ता है । ब्रह्म को मैंने देख लिया, ब्रह्म मुझे मिलगया ऐसा कभी किसी ने न देखा, न कभी किसी को मिला। नदी को सागर तो मिल जाता है परन्तु नदी सागर में मिलकर यह कहने को बचती ही नहीं कि मुझे सागर मिल गया क्योंकि वहाँ अब देखने वाला, पाने वाला दूसरा बचा ही नहीं । साक्षी ही साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है । आत्म साक्षात् ही ब्रह्म साक्षात्कार है ।

**जाग्रत्स्वप्न सुषुप्त्यादि प्रपंच यत्प्रकाशते ।**
**तत्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्व बन्धैः प्रमुच्यते ।।** १७. कैवल्य उप.

जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, ध्यान, समाधि यह सब आने जाने वाला अवस्थाओं का जो साक्षी है, जो कभी नहीं बदलता है, उसे पहचानलो ।

मैं न रहूँ तो इन बदलने को, आने–जाने की कौन गवाही देगा, कौन जानेगा ? रहने वाला अचल साक्षी मैं न रहे तो परिवर्तनों को कौन जानेगा ? खोज में न आने वाला अचल सनातन साक्षी मैं ही पाया गया । बदलने वाला, न रहने वाला, अहंकारी जीव मैं नहीं हूँ । इस मिटने वाले मैं में कभी न मिटने वाला मिला तो वह मैं ही निकला । अस्तु मैं साक्षी ही सत्य हूँ । एक शरीर के भावाभाव को जाने वह आत्मा जो समस्त संसार के शरीरों के परिवर्तनों को जानता है । वही समस्त संसार को ज्ञान दृष्टि से परमात्मा नाम से कहा जाता है किन्तु आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई परमात्मा नहीं है । पौधा ही बगीचा नाम से समष्टि दृष्टि से कहा जाता है अन्यथा बगीचा कुछ नहीं है, केवल एक मात्र पौधा ही है ।

जो बिछुड़ जावे, जो सदा न रहे वह सत्य नहीं, वह सनातन नहीं, वह परमात्मा नहीं । जो सदा रहता है तथा किसी इन्द्रिय द्वारा कभी भी जाना नहीं जा सकता यदि इस सत्ता को परमात्मा कहा जाता है तो फिर वह मैं ही हूँ क्योंकि 'मैं हूँ', इस बात को सब जानते हैं किन्तु मैं को किसी इन्द्रिय द्वारा देखा भी नहीं जाता है । यह रूप, दृश्य रूप में परमात्मा कभी नहीं हो सकेगा । जो देश, काल, वस्तु में बन्धा है वह परमात्मा नहीं है। परमात्मा बन्धन से रहित असीम है ।

मैं को खोजे बिना कोई परमात्मा की प्राप्ति नहीं कर सकता, क्योंकि मैं से परमात्मा भिन्न नहीं है । यह अपना आत्म स्वरूप ही ब्रह्म है '**अयमात्मा ब्रह्म**' '**तत्त्वमसि**' । जिसे तुम परमात्मा कह कर अन्यत्र खोज रहे हो वह परमात्मा तुम स्वयं आत्मा ही हो । आत्मा से भिन्न कोई स्वतन्त्र परमात्मा नहीं है ।

दृश्य के दिखते ही उस दृश्य के देखने वाले द्रष्टा को भी देखलो । दृश्य को जानते ही उस जानने वाले को जानलो । क्योंकि उस एक चेतन के बिना दृश्य, जड़ कैसे जान सकोगे ? द्रष्टा को न देखना ही मूढ़ता है । जगत् दिखते ही उसमें जगदीश, ब्रह्म, चेतन साक्षी को जानलो तो तत्काल जगत् भ्रमसे मुक्त हो सकोगे । सिनेमा चित्र को देखने के पहले प्रकाश को देखलेना ही यथार्थ दृष्टि है ।

परमात्मा एक अखण्ड सत्ता में द्वैत नहीं है । द्रष्टा–दृश्य, जड़–चेतन का भेद नहीं है । द्रष्टा होने के लिये अपने को ही दो रूपों में विभाजित करना होगा तुम्हारा ही आधा अंश दृश्य बनेगा, तब भी तुम्ही आधे अंग के द्रष्टा ही बने रहोगे । एक चैतन्य ही माया के साथ दूसरी तरफ दृश्य रूप में खड़ा होगया है, इस माया उपाधि ने ब्रह्म को द्रष्टा बना दिया है । द्रष्टा, दर्शन, दृश्य इस त्रिपुटी रूप में तुम ही एक साक्षी आत्मा स्थित हो । क्योंकि यहाँ एक ब्रह्म सत्ता के अतिरिक्त त्रिपुटी नाम की कोई वस्तु नहीं है ।

विषय से इन्द्रियाँ श्रेष्ठ है, इन्द्रियों के बिना विषयों की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं । यदि आँख न हो तो रूप को कौन कहेगा ? इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ है, मन के बिना आँख के सम्मुख रूप होने से भी कुछ पता नहीं चलता है । मन से बुद्धि श्रेष्ठ है । बुद्धि मन की दशा को जानती है । बुद्धि अहंकार जीव में रहती है । अहंकारी जीव सदा साक्षी में रहता है । और साक्षी बिना विषय, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार के भी रहता है साक्षी सबके भावाभाव को जानता है । सबका लोप होता है किन्तु साक्षी का कभी लोप नहीं होता, क्योंकि साक्षी का लोप हो जाए तो लोप होने को कौन बताएगा ? यदि कोई लोप को बताने वाला है तो वह साक्षी मैं ही हो सकूँगा, अन्य नहीं ।

जैसे पक्षी एक वृक्ष से उड़ता है व दूसरे वृक्ष पर जाकर बैठता है बीच में आकाश रहता है । इसी तरह मन एक दृश्य से उठकर दूसरे पर पहुँचता है, एक विचार से दूसरे विचार पर पहुँचता है, इन दोनों दृश्यों के बीच, दोनों विचारों के बीच, दोनों श्वाँसों के बीच जो खालीपन रहता है वही आपका सत्य ज्ञान एवं शुद्ध स्वरूप आत्मा है ।

**जाग्रत्स्वप्न सुषुप्त्यादि प्रपंचं यत्प्रकाशते ।**
**तत्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्व बन्धैः प्रमुच्यते ।।** १७. कैवल्य उप.

जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मुर्छा, ध्यान, समाधि समस्त प्रपंच को जो जानता है, वह साक्षी आत्मा मैं हूँ । '**सर्वधी साक्षी भूतम्**' ऐसा

परमात्मा का स्वरूप वेद में बतलाया गया है तो वह बुद्धि साक्षी परमात्मा मेरे अतिरिक्त कोई अन्य नहीं है । जो चेतन समीप उदासीन सत्ता है उसे वेद में साक्षी कहा है । तब तो वह मैं आत्मा ही हूँ जिसमें यह चेतनता, समीपता तथा देह संघात् से असंगता, उदासीनता बनी रहती है ।

आजतक जिसे 'वह' रूप से खोज रहे थे अब गुरु कृपा से जाना कि वह, वह नहीं है बल्कि **वह 'मैं' हूँ** ।

कभी तो हम देह को मैं मान लेते हैं कि मैं गया था, मैं जा रहा हूँ, मैं आया हूँ, जन्मा हूँ तो मरूँगा । अभी मैं जवान हूँ, अभी मैं बूढ़ा हो गया हूँ मैं दौड़ नहीं पाता, मैं बीमार हूँ ।

कभी हम प्राण को अपना रूप मान लेते हैं कि मैं भूखा मैं प्यासा ।

कभी हम इन्द्रियों को मैं मानलेते हैं, कि मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ, मैं सूघंता हूँ, मैं बोलता हूँ, मैं चलता हूँ ।

कभी हम मन के साथ एक हो जाते हैं और कहते है मैं बड़ा पापी हूँ, मैं क्रोधी, मैं कामी, मैं अशान्त, मैं शान्त, मैं सुखी, दुःखी ।

कभी हम अपने को बुद्धि मानलेते हैं कि मैं मूर्ख मैं पण्डित मैं चतुर शिरोमणि, मैं बुद्धि मैं ऋतम्भरा हूँ ।

कभी आप अहंकार से एक हो जाते हैं वह कहते है कि मैं अभिमानी हूँ, मैं क्षमा नहीं मागूँगा, मैं बड़ा अहंकारी हूँ। कभी यह जीव सभी से मैं पने का तादात्म्य तोड़ कर देह मेरा, प्राण मेरा, इन्द्रियाँ मेरी, मन मेरा, बुद्धि मेरी, अहंकार मेरा, जीव मेरा, इस प्रकार भी कहता है । इस प्रकार सबके गहरे में सर्व प्रकाशक, सर्वाधिष्ठान साक्षी आत्मा मैं ही हूँ ।

परिवर्तनों का साक्षी परिवर्तन होने वाले किसी भी साक्ष्य के द्वारा नहीं जाना जा सकता है । जो सदा रहता है वही परिवर्तन को देख सकता है ।

अज्ञानता से दर्पण में अभी तक दिखने वाले को मैं मानते आ रहे थे किन्तु अब सद्‌गुरु की कृपा से देखने का ढंग ही बदल गया कि मैं दिखने वाला नहीं हूँ, बल्कि मैं तो देखने वाला हूँ । मुझे तो भगवान् भी नहीं देख सकते । मैं ही तो 'यह' 'वह' को देखने, जानने वाला एक मात्र अचिन्त्य, अव्यक्त, अदृश्य चैतन्य साक्षी आत्मा हूँ ।

यदि सीमित अहंकार मिट जाय तो असीम आत्मसत्ता प्रकट हो जाय । यदि केवल यहाँ वाला मिट जाय तो मैं सर्वत्र हूँ । जो केवल यहाँ इस एक देह में द्रष्टा चेतन है, जब जीव भाव मिट जाय तो वह ब्रह्म ही सर्वत्र है । जो कहीं है, कहीं नहीं यदि वह मन से खोजाय तो फिर वही शेष रह जाता है, जो सर्वत्र है । जो सब जगह है वही यहाँ पर है ।

लहर ही जलकी व्यापकता के बोध में बाधक है । अलंकार ही स्वर्ण की व्यापकता के बोध में बाधक है । घड़ा, सुराही, गणेश, दुर्गा ही मिट्टी की व्यापकता में बाधक है । यदि यह रूप, नाम मिट जाये, समर्पित हो जावे जिससे यह सब मिट्‌टी वर्तन, मूर्ति व अलंकार बने हैं तो फिर मिट्टी व स्वर्ण ही व्यापक रह जाता है । इसी प्रकार जीव भाव मिट जाये व जिससे यह प्रतिबिम्ब चिदाभास पैदा हुआ है उसी बिम्ब व चिदात्मा में मिल जाय तो जीव ब्रह्म ही है । इस जीव का व्यष्टि भाव ही ब्रह्म की व्यापकता के बोध में बाधक है । जैसे घट टूटते ही वह महाकाश ही है ।

**घटे नष्टे यथा व्योम व्योमैव भवति स्वयम् ।**
**तथैवोपाधिविलये ब्रह्मैव ब्रह्मवित्स्वयम् ।।** आत्मोपनिषद २२,२३

जैसे घट नष्ट होने पर घट के अन्दर वाला आकाश, महाकाश रूप होता है उसी प्रकार देह एवं जीव उपाधिके विलय होने पर ब्रह्मज्ञानी आप स्वयं ब्रह्म ही शेष रह जाता है ।

**घटाकाशमठाकाशौ महाकाशे प्रतिष्ठितौ ।**
**एवं मयि चिदाकाशे जीवशौ परिकल्पितौ ।।**

२/५०-५१ बराह उप.

जिस तरह घटाकाश और मठाकाश एक महाकाश में ही कल्पित होते हैं उसी तरह मुझ चैतन्याकाश में जीव और ईश्वर परिकल्पित है ।

माया और उसका कार्य अविद्या इन दोनों का विलय होने पर न ईश्वर रहता है न तो जीव रहता, केवल एक परब्रह्म ही शेष रहता है ।

**उपाधिविनिर्मुक्तघटाकाशवत्प्रारब्धक्षयाद्विदेहमुक्तिः ।**

२/१ मुक्तिको. उप.

उपाधि से विनिर्मुक्त जैसा घटाकाश महाकाश ही बनता है वैसा जीव की सारे प्रारब्ध का क्षय हो जाता है तो देह के नष्ट होते ही विदेहमुक्ति हो जाती है ।

# राम कथा क्या है ?

**श्रोता वक्ता ज्ञान निधि, कथा राम की गूढ ।**
**किमि समुझे ये जीव जड़,**
**कलि मल ग्रसित विमूढ ।।**
**रामकथा के तेहि अधिकारी,**
**जिनके सत्संगति अति प्यारी ।।**

परमब्रह्म राम की कथा बहुत गूढ है, उस कथा के श्रवण के वही अधिकारी हो पाते हैं जिनको सतगुरु का सानिध्य प्राप्त होता है।

**बिनु सतसंग न हरि कथा, तेहि बिनु मोह न भाग ।**
**मोह गये बिनुराम पद, होई न दृढ़ अनुराग ।**

क्योंकि जब परमब्रह्म राम की कथा करने वाले श्रोत्रिय–ब्रह्मनिष्ठ सद्‌गुरु होंगे एवं श्रोता विवेक, वैराग्य, षट्, सम्पत्ति तथा मुमुक्षुता युक्त होते हैं तभी यह जीव ज्ञान पाकर ब्रह्मतत्त्व को समझ पाता है कि वह ब्रह्म मैं हूँ । अन्यथा विवेक, वैराग्य, शम, दम, श्रद्धा, तितिक्षा के बिना जड़ बुद्धि में यह गुढ़ तत्त्व प्रवेश नहीं कर पाता है ।

**नारी ऋतु के बिना, मर्द नपुन्सक होय ।**
**ज्ञानगर्भ धारण बिना, मुक्ति कहाँ से होय ।।** संत कबीरदास

**सत्संगति दुर्लभ संसारा, सुमिरी सुमिरी नर उतरहि पारा ।**

राम की कथा गोपनीय है यह शंकर भगवान् ने जब पार्वती जी को सुनाई तब उन्हें मनुष्य, पशु–पक्षी से दूर ले जाकर सुनाई थी । आज तो

गली–गली लाउड स्पीकर पर कथा हो रही है कि कब पैदा हुए कहाँ रहते थे किसके बेटे थे, कौन माता थी, कौन भाई थे, कौन शत्रु थे, कौन पत्नी थे, कितने बच्चे थे यदि यही राम कथा है तो फिर सब घर–घर में यही राम कथा ही हो रही है । यदि जन्मने वाले मरने वाले की कथा राम कथा है तो फिर तुम्हारी हमारी सबकी जीवन कहानी राम कथा है । सीता जी द्वारा हनुमान को परमब्रह्म का उपदेश :

**रामंविद्धि परमब्रह्म सच्चिदानन्द अद्वयं ।**
**सर्वउपाधिविर्निमुक्तं सत्तामात्र अगोचरम् ।** अध्यात्म रामायण

नानक देव कहते हैं –

**एको सुमिरो नानका, जल थल रह्यो समाय ।**
**दूजो काहे सुमिरिये जन्मे और मरजाय ।।**

**रामा मर गये कृष्णा मर गये, मर गई सीता माई ।**
**उसे क्यों नहीं भजते, जिसे मौत कभी नहीं आई ।।**

कोई–कोई सद्गुरु ही इस पृथ्वी पर राम कथा करते हैं, क्योंकि वह अकथ, अनिर्वचनीय, गूढ़ बात है ।

**अविचार कृतो बन्धः विचारान्मोक्षो भवति ।**
**तस्मात्सदा विचारयेत ।।** पैङ्गल उप. १८

ना समझी ही बन्धन है । न स्त्री बन्धन है, न पति, न पुत्र बन्धन रूप है, न गृह–सम्पत्ति बन्धन रूप है । अपने को देह मानना एवं देह सम्बन्धियों को अपना जानना ही बन्धन है । इस मैं–मेरे भाव से छूट जाना ही वास्तविक मुक्ति है । इसके अतिरिक्त तीर्थाटन, कुम्भ स्नान, कुण्डलिनी जागरण, कठिन तप, गृह त्याग से मुक्ति नहीं है।

आकाश में हजारों सूर्य व चन्द्रमा प्रकट हो जावे तो वह दिन व रात में प्रकाश कर पृथ्वी का अन्धकार मिटा सकेंगे किन्तु जीव के हृदय में जो अज्ञान अन्धकार छाया हुआ है वह बिना सद्गुरु के दूर नहीं हो सकेगा ।

**देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि ।**
**यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र परामृता ।।**

जब जिज्ञासु को सद्गुरु कृपा द्वारा अपने आत्म स्वरूप का बोध जाग्रत हो जाता है कि मैं द्रष्टा, साक्षी आत्मा हूँ तब उसका मन जहाँ–जहाँ जाता है वहाँ–वहाँ उसे परमात्मा का ही भान होता है ।

**दुर्लभो विषय त्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम् ।**

**दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणा बिना ।।** २/७६ बराह उप.

सद्गुरु की कृपा बिना सहजावस्था तो अति दुर्लभ ही है ।

# सत्गुरु

गुरु के आचरण को मत देखना, गुरु के कर्मों को मत देखना उनके अमृत वचनों का ही सेवन करना । पार्वती जी ने साकार राम को सीता वियोग मे रोते देखा तो भ्रम में पड़ गई लेकिन शंकरजी ने उन्हें सर्वव्यापक निराकार राम रूप में देखा तो उन्हें 'जै सच्चिदानन्द' कह कर प्रणाम किया। गुरु वही जो आपके सब भ्रमों को एवं स्वरूप अज्ञान को दूर कर अपने सहित सर्वत्र सर्वरूप में एक ब्रह्म का अनुभव करा सके ।

तुम भी अपने कर्मों को मत देखना, अपने भोगों को मत देखना । देखना है तो स्वरूप को देखो कि तुम कर्ता नहीं, तुम भोक्ता नहीं, तुम केवल साक्षी मात्र हो ।

ज्योति दिखाने वाले, दशम द्वार तक चढ़ाने वाले, कुण्डलिनी जगाने वाले, नाद सुनाने वाले यह सब नट हैं, मदारी हैं, जादू दिखाने वाले जादुगर है । यह कोई भी पूर्ण ब्रह्म ज्ञानी नहीं है । **जो सब देखने वाले को दिखादे वही सच्चा गुरु है । देख, देख, देखने वाले को देख ।**

जो दिखाई पड़ता है वह सब दृश्य विनाशी ही हैं **'यद् दृष्टं तत् नष्टम् ।'** तुम साक्षी ही साक्षात् ब्रह्म हो । आत्म साक्षात्कार ही ब्रह्म साक्षात्कार है । ब्रह्म जब भी मिलता है तो मैं होकर ही मिलता है । 'यह' या 'वह' होकर कभी नहीं मिलता ।

जो जिज्ञासु अमृतपान कर चुका उसे वेदोक्त कर्म, उपासना, योगादि साधनों से क्या प्रयोजन ?

**अमृतेन तृप्तस्य पयसा किं प्रयोजनम् ।**
**एवं स्वात्मानं ज्ञात्वा वेदैः प्रयोजनं किं भवति ।।** ४/८ पैङ्ग. उप.

जैसे जो नदी पार कर चुका अब उसे नौका पर चढ़े रहने से क्या प्रयोजन ?

मिट्टी खोदते–खोदते कुआँ में पानी निकल आया तब और खोदने के लिये उसके फावड़ा, कुदाली, टोकरी रस्सी आदि साधन को पकड़े रहने की क्या जरूरत ?

धान से चावल अलग हो गया अब उसे और पीटने से क्या प्रयोजन ?

लहर जहाँ से उठी वहाँ पानी, लहर जितनी दूर तक गई वहाँ तक पानी, लहर जब तक रही वह पानी, लहर जब मिट गई तब पानी, पानी से भिन्न आदि, मध्य व अन्त में कुछ नहीं ।

इसी प्रकार ध्यान प्रारम्भ किया तब चेतन, ध्यान जब तक चला तब तक चेतन, ध्यान जब टूटा तब चेतन । अतः चेतन ही चेतन है, चेतन के सिवा अन्य कुछ नहीं है । मुझ चेतन के द्वारा जो देखा गया वह दुनियाँ की दृष्टि से एक दिन अवश्य बिदा हो जायगा । चाहे वह राम, कृष्णादि अवतारी भगवान् ही क्यों न हो, वह भी देह त्याग कर चले गये । मैं चेतन ही एक मात्र सत्य हूँ ।

जो परमात्मा निराकार शक्तिरूप है, जो अकथनीय है, अनिर्वचनीय है, अचिन्त्य है, जो जानने में आता नहीं, जो देखने में आता नहीं, जो सुनने में आता नहीं, जो कहने में आता नहीं, उसे कह रहे हैं, सुना रहे हैं, जना रहे हैं, अनुभव करा रहे हैं, दिखा रहे हैं यही है श्री सद्गुरु का चमत्कार ।

**तीन लोक नव खण्ड में, गुरु से बड़ा न कोय ।**
**हरि चहे न कर सके, गुरु चहे सो होय ।।**

वे धन्य हैं जिन्हें यह राम कथा, आत्म कथा सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, अकथ की कथा सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वे बड़े भाग्य शाली है । बाकी कथा तो सभी सुनाने रहते है पर अकथ की कथा सुनाने व सुनने वाले दोनों बधाई के पात्र हैं ।

**श्रोता वक्ता ज्ञान निधि, कथा रामकी गूढ़ ।**
**किमि समझे यह जीव जड़, कलि मल ग्रसित विमूढ़ ।।**

**घटे नष्टे यथा व्योम व्योमैव भवति स्वयम् ।**
**तथैवोपाधिविलये ब्रह्मैव ब्रह्मवित्स्वयम् ।।** आत्मोपनिषद २२,२३

ज्ञानी कहीं भी कैसे भी, देह त्याग करे वह ब्रह्म में ही स्थित रहता है । जैसे घट स्थित आकाश महाकाश में ही स्थित रहता है किन्तु घट उपाधि से उस घट में स्थित आकाश पूर्ण आकाश से पृथक्-सा मालुम पड़ता है । जैसे एक ही सूर्य नाना जल से भरे घटों में नाना प्रतीत होता है किन्तु आकाश स्थित सूर्य तो एक ही है । नाना देह उपाधि से प्रत्येक देह स्थित अखण्ड आत्मा भिन्न भिन्न नाना मालुम पड़ती है । किन्तु ब्रह्म तो अखण्ड ही रहता है । जैसे घट  नाश से घटाकाश, महाकाश रूप ही रहजाता है इसी प्रकार देह नाश होने पर व्यष्टि आत्मभाव समष्टि परमात्मा रूप ही रह जाता है ।

**यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।**
**सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ।।** गीता १३/३२

**यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।**
**क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ।।** गीता १३/३३

साधक को शास्त्र जाल में नहीं फंसना चाहिये । गुरु द्वारा जाने **अयमात्मा ब्रह्म, शिवोऽहम्, सोऽहम्, मैं ब्रह्म हूँ, अहं ब्रह्मास्मि** आदि महावाक्यों का ही चिन्तन करना पर्याप्त है । ज्यादा पढ़कर, रटकर अपने मन, वाणी को थकाना नहीं चाहिये । जो अपना स्वरूप आत्मा सत्य है उसकी ही **सोऽहम्** रूप से उपासना करना चाहिये ।

**ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्त्वतः ।**
**पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद्ग्रन्थमशेषतः ।।** १८ : ब्रह्मविन्दु. उप.

पूजा, पाठ, व्रत,उपवास, तप, तीर्थ, कर्म, उपासना, योग आदि साधन साधक हेतु तभी तक जरूरी है, जब तक उसे किसी श्रोत्रिय–ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु के द्वारा आत्मबोध जाग्रत न हुआ है। आत्मबोध होने के बाद इन साधनों की आवश्यकता नहीं रहती । क्योंकि यह कर्म साधना पुनर्जन्म का हेतु है ।

**पाषाणलोहमणिमृण्मयविग्रहेषु पूजा पुनर्जननभोगकरी मुमुक्षोः ।**
**तस्माद्यतिः स्वहृदयार्चनमेव कुर्यात्बाह्यार्चनं परिहरेदपुनर्भवाय ।।**

मैत्रय उप. २/२६

जब ज्ञान द्वारा देहाभिमान नष्ट हो जाता है और बुद्धि ब्रह्माकार हो जाती है तब बुद्धिमान पुरुष ज्ञान रूप अग्नि से कर्म बन्धनों को भस्म कर देता है ।

**यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात कुरुतेऽर्जुन ।**
**ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।।** ४/३७ : गीता

ज्ञानी अपने को परमानन्द स्वरूप अनुभव करता है इसलिये वह अज्ञानियों की तरह धन, पुत्र, पद प्रतिष्ठा में आसक्त नहीं होता ।

जिसको परलोक जाने की इच्छा है वह भले ही उसके लिये कर्म करे, पर मैं सर्व लोकों का आत्मा हूँ इसलिये मेरे लिये कुछ भी प्राप्तव्य नहीं होने से कर्म करने की जरूरत नहीं है ।

जिस प्रकार सूर्य रसों को ग्रहण करता है, अग्नि सभी पदार्थों को भस्म कर देती है वैसे ही ज्ञानी सब पदार्थों को भागता है तो भी वह सूर्य, अग्नि, गंगा की तरह पवित्र ही रहता है । वह अज्ञानी की तरह पाप–पुण्य को प्राप्त नहीं होता है। जिस प्रकार सागर चारों तरफ से भरा होने पर भी समुद्र में सभी तरफ से नदियाँ मिल जाती है तब भी समुद्र में कोई परिवर्तन दिखाई नहीं पड़ता है। इसी तरह ज्ञानी पुरुष विषय भोग करते हुए भी वह अपने अचल, अखण्डानन्द, आत्म स्वरूप में स्थित रहता है।

जिसको इस बात का अधिकार है वह भले ही वेद शास्त्र पढ़े, प्रवचन दे, ग्रन्थ लिखे वेद पाठशाला खोले पर मुझे तो इस प्रकार प्रवृत्ति का अधिकार ही नहीं है, क्योंकि मैं क्रिया रहित हूँ। जो अपने को द्रष्टा माने वह भलेही दृश्य की कल्पना करे परन्तु मैं अखण्ड सर्व व्यापक हूँ मुझे अपने से भिन्न अन्य की कल्पना करने की क्या जरूरत ?

जिन्होंने तत्त्व को जाना नहीं वे भले ही श्रवण करे पर मैं तो तत्त्व को जानता हूँ इसलिये मुझे श्रवण करने की जरूरत नहीं ।

जो संशय वाला है उन्हें ही मनन कर्तव्य है, वे ही अभेद की साधक एवं भेद की बाधक युक्तियों द्वारा अद्वितीय ब्रह्म का चिन्तन करे । किन्तु मुझे कोई संशय नहीं इसलिये मनन साधन मेरे लिये कर्तव्य नहीं है।

जिन्हें विपर्यय बुद्धि है वही निदिध्यासन करे किन्तु मुझे देहाध्यास अर्थात् देह में मैं बुद्धि नहीं है एवं परमात्मा के प्रति दूरी भाव नहीं तब मुझे ध्यान करने की भी जरूरत नहीं है।

इस प्रकार चिन्तन करने वाला सब पापों से मुक्त हो परम पवित्र हो जाता है ।

## धन्य -धन्य कैसे ?

मुझे जो आवश्यक, महत्वपूर्ण काम करना था वह कर लिया और जो सबसे श्रेष्ठ वस्तु प्राप्त करना था उसे प्राप्त कर लिया इसलिये मेरे लिये कोई भी लौकिक व शास्त्रिय व्यवहार कर्तव्य रूप नहीं, तब मैं क्यों कर्म में प्रवृत्त होउँ ?

मैं कृत कृत्य हूँ । मेरे लिये किञ्चित् भी कर्तव्य रूप नहीं, फिर भी लोगों पर अनुग्रह करने के लिये कर्म करूँ तो भी उससे मेरी कोई हानि नहीं है ।

देव पूजा, नदी स्नान, शौच, भिक्षा आदि में भले ही शरीर प्रवृत्ति करे, वाणी ॐ का या अन्य का जाप करे, उपनिषदों का अध्ययन करे, ग्रन्थ रचना करे, वाणी भजन करे, बुद्धि विष्णु आदि देवों का भले ही ध्यान करे अथवा ब्रह्मानन्द में लीन रहे, मैं तो केवल समस्त क्रियाओं का एक मात्र साक्षी हूँ । मैं उपरोक्त किसी भी प्रकार के कर्मों का कर्ता नहीं । मैं कृत कृत्य होने से पूर्ण तृप्त हूँ ।

फिर मैं धन्य–धन्य हूँ, मुझे धन्य–धन्य है, क्योंकि गुरु कृपा से अपने आत्म स्वरूप को मैंने बिना कष्ट किये घर बैठे ही जान लिया, जिसे साधु गृह त्याग कर, कठिन तप करके भी नहीं जान पाते हैं । मुझे धन्य–धन्य है, क्योंकि संसार का दुःख अब मुझे स्पर्श नहीं करता । मैं धन्य–धन्य हूँ, क्योंकि मेरा अज्ञान सदा के लिये नष्ट हो चुका है । मुझे धन्य–धन्य है, क्योंकि अब मुझे कुछ भी करना शेष नहीं है । मैं धन्य–धन्य हूँ क्योंकि जिसे प्राप्त करना था उसे मैंने प्राप्त करलिया । मैं धन्य–धन्य हूँ क्योंकि मुझे जिसे जानना था उसे मैंने जानलिया है, मैं धन्य–धन्य हूँ,

क्योंकि मैं त्रैलोक्य में पुज्य हूँ । मैं धन्य–धन्य हूँ, क्योंकि मेरी तृप्ति की उपमा तीन लोकों में भी नहीं है । मैं बारम्बार धन्य–धन्य हूँ अहो पुण्य ! अहो पुण्य ! इस पुण्य की सम्पत्ति बहुत उत्तम आत्म ज्ञान रूप में फली है । अहो हम ! अहो हम ! अहो ज्ञान ! अहो गुरु ! अहो आनन्द ! अहो आनन्द । (अवधूत उपनिषद. ३०–३५)

जैसे गुड़ गन्ने के रस में व्याप्त है वैसे ही मैं अद्वैत ब्रह्म ही तीनों लोको के रूप में व्याप्त है ।

जैसे समुद्र बुलबुले, लहर कल्पित है इसी तरह मेरे अन्दर ब्रह्मादिक देवता से लेकर पशु, पक्षी, कीट, पंतग सभी कल्पित है ।

जिस प्रकार समुद्र तरंगों में रहने वाले जल की इच्छा नहीं करता उसी तरह मैं केवल आनन्द स्वरूप होने से विषयों के आनन्द की इच्छा नहीं करता ।

जैसे धनाढ्य व्यक्ति को दरिद्रता की सम्भावना नहीं रहती वैसे ही ब्रह्मानन्द में मग्न मुझे विषयों की सम्भावना नहीं है । जैसे बुद्धिमान विषाक्त रसका त्याग कर मधुर रस का पान करता है इसी तरह मैंने आत्मानन्द को पान कर विषय विष का त्याग कर दिया है ।

**घटावभासको भानुर्घट नाशो न नश्यति ।**
**देहावभासकः साक्षी देह नाशो न नश्यति ।।** आत्मप्रबोध १८

घड़े के नाश होने से घड़े का प्रकाशक सूर्य का नाश नहीं होता इसी प्रकार देह के नाश होने पर देह के प्रकाशक मुझ साक्षी आत्मा का नाश नहीं होता है ।

मेरे लिये कोई शास्त्र विधि–निषेध का प्रतिपादन नहीं कर पाती क्योंकि मेरे में जाति, आश्रम का अभिमान नहीं है । शास्त्र विधि देहाभिमानियों के लिये है ।

मेरा बन्धन नहीं है इसलिये मुझे मोक्ष की भी चाह नहीं है । मेरा कोई गुरु नहीं है क्योंकि मुझ आत्मा में कोई अज्ञान, कोई भ्रान्ति नहीं है ।

मेरे प्राण भलेहि चले जावें और मन चाहे नाश को प्राप्त होजाय फिर भी मैं आनन्द व ज्ञान से पूर्ण होने के कारण मुझे किसी प्रकार का दुःख नहीं हो सकता ।

मेरे लिये विधि निषेध हट गये । क्योंकि मेरा देहभाव और अहंभाव नष्ट हो गया । मेरे मन से जीव, ईश्वर का भेद समाप्त हो गया । अब मेरे लिये आश्रम धर्म सब असत्य हो गये हैं। इसलिये मैंने आश्रम व धर्म की चादर को उतार फेंक दिया है ।

मैं प्रत्यगात्मा से अभिन्न परमात्मा हूँ । मैं सर्व साक्षी होने से किसी प्रकार की अपेक्षा से रहित हूँ ।

**यदवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ।**
**मृत्योःस मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।।** कठोप २/१/१०

जो मनुष्य इस अद्वय, अखण्ड, सर्वव्यापक ब्रह्म में भेद देखता है कि वह और है, मैं और हूँ वह ब्रह्महत्यारा अज्ञानी बार-बार मृत्यु को प्राप्त होता है ।

**इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।**
**न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ।।** गीता : १८/६७
**नापुत्राय प्रदातव्यं नाशिष्याय कदाचन्**
**गुरु देवाय भक्ताय नित्यं भक्ति पराय च ।।** ४७ : ब्रह्म विद्या उप.

जो पुत्र अथवा शिष्य भी नहीं उसे यह विद्या नहीं देना चाहिये । यह ब्रह्म विद्या उसी पुरुष को देना चाहिये जो शुद्धाहारी, सेवाभावी तथा सच्चा भक्त, श्रद्धालु और नित्यभक्ति परायण हो ।

यह आत्म उपदेश साधारण पुरुषों को उपदिष्ट नहीं करना चाहिये । क्योंकि यह अत्यन्त गोपनीय है, इसे शुद्ध अन्तःकरण वाले, सात्विक बुद्धिवाले तथा आत्म जिज्ञासा रखने वाले को ही बताना चाहिये । जो गुरु भक्ति, सेवादि में श्रद्धा करता है, उसे ही इसका उपदेश अवश्य करना चाहिये ।

**घृतमिव पयसि निगूढ़ं भूते भूते च वसति विज्ञानम् ।**
**सततं मन्थयितव्यं मनसा मन्थान भूतेन ।।** २०. ब्रह्मविन्दु उप.

जिस प्रकार तिल में तैल, दही में घृत, लकड़ी में अग्नि, वीर्य बिन्दु में सन्तान अव्यक्त रूप से विद्यमान रहती है उसे युक्ति द्वारा प्रकट किया जाता है इसी प्रकार सभी देहों में आत्मा विद्यमान रहता है, उसे सद्‌गुरु शरणागति द्वारा ज्ञान तप से 'मैं रूप' में अनुभव किया जाता है ।

जिस प्रकार दीपक की छोटी सी ज्योति महान् अन्धकार का नाश करती है इसी तरह थोड़ासा आत्मज्ञान जन्मों-जन्मों के अज्ञान को नष्ट कर देता है ।

# ब्रह्म सूत्र

संन्यास लेने वाले ज्ञानी को शिखा व चोटी सहित मुण्डन करने के पश्चात् बाह्य सूत्र यज्ञोपवीत का भी त्याग कर देना चाहिये । जिसको अविनाशी परम ब्रह्म कहा जाता है वही इस यज्ञोपवीत सूत्र के रूप में ब्रह्मचारी द्वारा प्रथम धारण किया जाता है। यह समझ कर उसी को हृदय में धारण करना चाहिये । यज्ञोपवीत यह प्रकट करता है कि परमब्रह्म तुम्हारे हृदय मन्दिर में ही है। इसीलिये उसे सूत्र कहा जाता है । सूत्र का अर्थ है परम पद । इस सूत्रको जिसने जान लिया है कि **वह ब्रह्मात्मा मैं हूँ, वही ब्राह्मण है, वही वेदज्ञ है, वही वेद का पारगामी है** । जिस प्रकार सूत्र की माला में सूत्र के ही मणके बनाये जाते है । उसी प्रकार परमब्रह्म में यह समस्त विश्व पिरोया हुआ है। तत्त्व वेत्ता और योग वेत्ता ज्ञानी जनों को इस अखण्ड 'सूत्र' को हृदय में धारण करना चाहिये।

**मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।**
**मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।।**७/७ गीता

उत्तम ज्ञान योग को ग्रहण करने वाला ज्ञानी पुरुष बाहरी सूत्र (जनेउ) को त्याग दे । मैं ब्रह्म स्वरूप हूँ इसबात को स्वीकार करना ही सूत्र समझना चाहिये । इस आत्म सूत्र को जो धारण करता है वही चैतन्य है, वही ब्राह्मण है, वही तत्त्ववित् है, वही आत्मवित् है, वही ब्रह्मवित् है । इस सूत्र को धारण करने से व्यक्ति प्रारब्ध वश महान् पाप होने परभी अपवित्र नहीं होता । इसके साथ बैठने वाले ब्रह्महत्या, सुरापान, गुरु पत्नी गमन, स्वर्ण चोरी जैसे महा पाप करने वाले भी सब पापों से भी छूट जाते है । (पैङ्गल. उप.४/२९)

ज्ञान रूप यज्ञोपवीत धारण करने वाले पुरुषों के हृदय में ब्रह्म रूप सूत्र रहता है । इसलिये उन्हें अज्ञानी व्यक्तियों की तरह बाह्य यज्ञोपवीत धारण एवं चोटी आदि रखना नहीं पड़ता । ऐसे आत्मज्ञानी सूत्र के वास्तविक रूप जानने वाले हैं और वे ही सच्चे आत्मज्ञान रूप यज्ञोपवीत के धारण करने वाले हैं ।

**कर्मण्याधिकृता ये तु वैदिके लोकिकेऽपि वा।**
**ब्राह्मणाभासमात्रेण जीवन्ते कुक्षिपूरकाः ।**
**व्रजन्ते निरयं ते तु पुनर्जन्मनि जन्मानि ।** परब्रह्मोप. ९

वैदिक अथवा लौकिक कर्मों में ही अपना अधिकार मानने वाले केवल ब्राह्मणों के आभास मात्र है और पेट भरने के लिये ही वे जीते हैं । वे जन्म–जन्म भटकते ही रहेंगे ।

**शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम् ।**
**ब्राह्मण्यं सकलं तस्य नेतरेषां तु किञ्चन् ।।** परब्रह्मोप. १७

किन्तु जिसकी शिखा ज्ञानमयी है । ज्ञानमय ही यज्ञोपवीत है । उसके पास ही सकल ब्राह्मणत्व है किन्तु बाह्य शिखा सूत्र धारण करने वालों के पास किञ्चित् भी ब्राह्मणत्व नहीं है । (१२, परब्रह्म उप.)

आत्मज्ञानी तो किसी मूर्ति, मानव को अथवा सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी जलादिकों को प्रमाण नहीं करता । क्योंकि उसकी दृष्टि में कोई भी दृश्य ब्रह्म से भिन्न नहीं है । अथवा वह सभी को परमात्मा रूप जानता है इसलिये गौ, गधे, ब्राह्मण, चाण्डाल, कुत्ते आदि सभी को प्रणाम करता है । सभी को पृथ्वी पर गिरकर दण्डवत् प्रणाम भी करता है । (याज्ञवल्क्य.उप)

**विद्याविनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।**
**शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।।** ५/१८ : गीता

ब्राह्मणपना, हिन्दुपना, गोत्र, कुल, नाम, जाति जन्म–मृत्यु, आश्रम,, सुन्दरता आदि का अस्तित्व स्थूल देह में होता है किन्तु मैं तो स्थूल देह से भिन्न द्रष्टा, साक्षी, आत्मा हूँ ।

भूख–प्यास अन्धपन, बहरापन, काम, क्रोध आदि समस्त धर्म सूक्ष्म शरीर के हैं । मैं तो लिंग देह से रहित उनका द्रष्टा, साक्षी, आत्मा हूँ ।

अज्ञानता, जड़ता, मूढ़ता, प्रियता आनन्द मानना आदि कारण शरीर का धर्म है और मैं तो नित्य, निर्विकार, द्रष्टा, साक्षी, आत्मा हूँ। इसलिये मैं इन देहों से पृथक् द्रष्टा, साक्षी, आत्मा हूँ।

जिस प्रकार तीन कालों में रस्सी में सर्प नहीं होता उसी प्रकार अज्ञान से लेकर तीनों देह, तीन गुण, तीन शरीर तीन अवस्था, पंचकोष मुझमें नहीं है। मैं तो केवल सत्-चित्त्-आनन्द स्वरूप अखण्ड, असंग, अविनाशी, आत्मा हूँ। मुझ में जड़ता, मिथ्या पना, दुःख, विकार नहीं है, यह सब भेद भ्रम अज्ञान से ही है।

**हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ।** ध्यान बिन्दु उप. ६१

**हसं हंसेत्यमुं मत्रं जीवो जपति सर्वदा ।**
**शतानि षड्दिवारात्रं सहस्त्राण्येकविंशतिः ।** ध्यान बिन्दु उप. ६२

**एतत्संख्याऽन्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ।**
**अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा ।।** ध्यान बिन्दु उप. ६३

**अस्याः संकल्पमात्रेण नरः पापैः प्रमुच्यते ।**
**अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः ।।** ध्यान बिन्दु उप. ६४

**अनया सदृशं पुण्यं न भूतं न भविष्यति ।**
**येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ।।** ध्यान बिन्दु उप. ६५

प्रत्येक जीव में स्वाभाविक प्रकृति से श्वाँस **सो** रूप में ग्रहण होती है एवं **हम्** रूप में बाहर निकलती है। इस प्रकार जीवों में दिन-रात २१६00 बार यह हंस - हंस या सोऽहम् होता रहता है। इस अजपा की और मन लगाने से यह चंचल मन को तत्काल शान्त करलेता है। इसे अजपा गायत्री कहते हैं। यह बुद्धिजीवी साधकों के लिये मोक्ष प्रदायिनी है।

इस अजपा गायत्री के संकल्प मात्र से मनुष्य महान् पापों से छूट जाता है। न तो इसके समान कोई विद्या है, न जप है, न कोई तप है न कोई पुण्य है, न किसी साधन से इसके समान पुण्य हो सकता है। इसके मानसिक सुमिरन द्वारा मनुष्य बिना किसी प्रकार के बाह्य कठिन साधन किये ब्रह्म स्थान को पहुँच जाता है।

## अखण्ड माला

**सकारं च हकारं च जीवो जपति सर्वदा ।**
**नाभि रन्ध्राद्विनिष्क्रान्तं विषयव्याप्तिवर्जितम् ।।**१६ ब्रह्म विद्या. उप.

सकार तथा हकार यह दो पदों का सब जीवों में सर्वदा भीतर–भीतर बिना वाणी के जप होता रहता है । इसीलिए इसे अजपा जाप, अनाहत नाद कहते हैं । यह नाभिरन्द्र से निकलता हुआ यह विषयों से रहित शुद्ध है। इसमें वर्णमाला के अक्षरों की एवं कण्ठ, तालु, मुर्धा, दन्त, ओठ के स्पर्श की जरूरत नहीं है ।

**हंसविद्यामृते लोके नास्ति नित्यत्वसाधनम् ।**
**यो ददाति महाविद्यां हंसारव्यां पारमेश्वरीम् ।।२६**

हंस रूपी विद्यामृत के समान जगत् में नित्य तत्त्व आत्मा को पाने के लिये अन्य कोई साधन नहीं है । जो महापुरुष इस विद्या को देता है उस गुरु के प्रति हमारे मन में भगवत् बुद्धि रहना चाहिये ।

**तस्य दास्यं सदा कुर्यात् प्रज्ञया परया सह ।**
**शुभं वाऽशुभमन्यद्वा यदुक्तं गुरुणा भुवि ।।२७**

उस सद्गुरु की सदैव ज्ञान पूर्वक सेवा करनी चाहिये और गुरु जो कुछ शुभाशुभ आदेश दे उसका बिना विचारे शिष्य को सन्तोष युक्त भाव से पालन करना चाहिये ।

**तत्कुर्यादविचारेण शिष्यः सन्तोष संयुक्तः ।**
**हंस विद्यामिमां लब्ध्वां गुरुशुश्रूषया नरः ।। २८**

**आत्मानमात्मना साक्षात्ब्रह्म बुद्ध या सुनिश्चलम् ।**
**देहजात्यादि सम्बन्धान्वर्णाश्रम समन्वितान् ।।२९**

इस हंस विद्या को गुरु से प्राप्त करके आत्मा से आत्मा को जाने कि मैं स्वयं आत्मा हूँ । इस बात को केवल वाणी से या बुद्धि से न जाने बल्कि आत्मा से ही आत्मा को जानकर समस्त वर्णाश्रम, जाति आदि सम्बन्ध और वेद शास्त्रों की बातों को निःसंकोच भाव से छोड़ दे और सदा गुरु सेवा, सुश्रुषा करे, इससे जीव का वास्तविक कल्याण होगा ।

**गुरुरेव हरिः साक्षात् न अन्य इत्य ब्रवीच्छ्रुतिः ।।३१**
**श्रुत्या यदुक्तं परमार्थमेव तत् सन्शयो नात्र ततः समस्तम् ।।३२**

समस्त शरीरों में रहने वाले चैतन्य रूप ब्रह्म की जो प्राप्ति कराये वही गुरु उपास्य है । श्रुतियों में कहा गया है कि गुरु ही साक्षात् हरि है, कोई अन्य नहीं है । अतः निःसन्देह यह बात श्रुति प्रमाण होने से सत्य समझना चाहिये । श्रुति से जो बात प्रमाणित न हो उसे मानना व करना अनर्थकारी ही होगी ।

**प्राणिनां देह मध्ये तु स्थितो हंसः सदाच्युतः ।**
**हसं एव परं सत्यं हंस एवं तु शक्तिकम् ।।६०**

हंस रूप परमात्मा सब जीवों तथा देवताओं के हृदय में विद्यमान रहता है उसकी साथ जीव को सोऽहम् भावना निरन्तर करना चाहिये।

**देहो देवालयः प्रोक्ताः स जीवः केवलः शिवः ।**
**त्यजेदज्ञान निर्माल्यं सोऽहं भावेन पूजयेत् ।।** १० स्कन्द. उप.

देह को ही देवालय समझना चाहिये । परमात्मा का यही श्रेष्ठ चैतन्य मन्दिर है । इस में जीव ही शिवरूप है । अज्ञान रूप देहभाव का त्याग कर अति उत्तम पवीत्र सोऽहम् चिन्तन करना चाहिये अर्थात् वही शिव मैं हूँ जिसे अज्ञानतावश कैलाश पर्वत, मान सरोवर, काशी आदि स्थानों पर खोज रहा था । यह शिवोऽहम् चिन्तन ही परमात्मा की पूजा है ।

# देह मन्दिर में परमात्मा

**शिवमात्मनि पश्यन्ति प्रतिमासु न योगिनः**
**अज्ञानां भावनार्थाय प्रतिमाः प्ररिकल्पिताः** ।।४/५९ जाबालद.उप.

कल्याण स्वरूप परमेश्वर इस देह में ही विराजमान हैं । उसे न जानने वाला मूर्ख वेद वचन, ईश्वर वचन पर विश्वास नहीं करके तीर्थ, दान, जप,यज्ञ, काष्ठ और पाषाण में ही परमात्मा को खोजा करता है । प्रतिमा की कल्पना तो अज्ञानी लोगों के मन में परमात्मा के प्रति श्रद्धा जाग्रत करने के लिये की गई है ।

**ब्रह्म स्वरूपमिमि अन्येऽसावन्योऽहमस्मीतिये विदुस्ते पशवे ।**

अपना स्वरूप ही ब्रह्म है । जो अपने से भिन्न ब्रह्म को मानता है वह मनुष्य नहीं उसे पशु ही समझना चाहिये । वह ब्रह्म हत्यारा है, वह महान पापी है ।

**यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।**
**तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।।** ६/३० गीता

जब गुरु कृपासे वह साधक सब प्राणियों में अपने को और अपने में सब प्राणियों को देखता है तब यह साक्षात् ब्रह्म ही हो जाता है ।

**आत्मतीर्थं समुत्सृज्य बहिस्तीर्थानि यो व्रजेत ।**
**करस्थं स महारत्नं त्यक्त्वा काचं विमार्ग ते ।।** ४/५० जाबाल

आत्मतीर्थ सबसे श्रेष्ठ तीर्थ है । जो मनुष्य आत्मतीर्थ को छोड़ बाह्य तीर्थों में ही भटक कर जीवन नष्ट करता है वह मानो ऐसा मूर्ख है कि हाथ के बहुमुल्य रत्न का त्याग करके कांच को पकड़ता है ।

**तीर्थानि तोय पूर्णानि देवान् काष्ठादि निर्मितान् ।**
**योगिनो न प्रपूज्यन्ते स्वात्मप्रत्ययकारणात् ।।५२**

योगी जन आत्म तीर्थ में श्रद्धा करते हैं इसलिये व जलमय तीर्थों में अज्ञानी, सकामी, मन्द बुद्धिवालों की तरह गोते नहीं लगाते हैं । ज्ञानयोगी साधक काष्ठ,पाषाण,धातु से निर्मित प्रतिमाओं में विश्वास नहीं करते हैं ।

**बहिस्तीर्थत्परं तीर्थमन्तस्तीर्थं महामुने ।**
**आत्मतीर्थं महातीर्थमन्यतीर्थं निरर्थकम् ।।** ४/५३ : जावाल द. उप.

**चित्रमन्तर्गतं दुष्टं तीर्थास्नानैर्न शुद्धति ।**
**शतशोऽपि जलैर्धौतं सुराभाण्डमिवाशुचि ।।** ४/५४ : जावाल द. उप.

**तीर्थ दाने जपे यज्ञे काष्ठे पाषाण के सदा ।**
**शिवं पश्यति मूढात्मा शिवे देहे प्रतिष्ठिते ।।** ४/५७ : जावाल द. उप.

**अन्तःस्थं मां परित्यज्य बहिष्ठं यस्तु सेवते ।**
**हस्तस्थं पिण्डमुत्सृज्य लिहेत्कूर्परमात्मनः ।।** ४/५८: जावाल द. उप.

**पाषाण लोहमणि मृणमयविग्रहेषु पूजा पुनर्जनन भोगकरी मुमुक्षोः**
**तस्मात्यतिः स्वहृदयार्चनमेव कुर्यात्बाह्यार्चनं परिहरेदपुनर्भवाय ।।**

मैत्रय उप. २/२६

पत्थर, सोना, चाँदी, तांबा, पीतल, कांच, काष्ठ, मिट्टी द्वारा बनाई गई मूर्तियों की पूजा मोक्षार्थी के लिये बन्धन का हेतु है । उन्हें पुनर्जन्म को प्राप्त करना पड़ेगा । यदि पुनर्जन्म ग्रहण करने की इच्छा न हो तो साधक को ऐसी बाहरी जड़ मूर्तियों की पूजा का सर्वथा त्याग कर अपने हृदय स्थित आत्मा की सोऽहम् भावना द्वारा उपासना करना ही सर्वोत्तम पूजा व भक्ति है, जो उसके जीवन्मुक्ति की सहयोगी होगी । मनुष्यकृत मूर्तियों की अपेक्षा यह पुष्प, उनकी सुगन्ध, फल, उनमें रस,

यह सूर्य, चन्द्र, यह पशु, पक्षी तथा जीवों के शरीर तो प्रत्यक्ष परमात्मा के हाथ से निर्मित सच्ची प्रतिमाएँ हैं। तात्पर्य यह है कि स्थावर जंगम सभी परमात्मा स्वरूप है । चेतन की पूजा ही परमात्मा की पूजा है ।

साधक यदि परमात्मा के सच्चे मन्दिर व परमात्मा को पाना चाहता है तो मनुष्य कृत मन्दिर, मूर्ति का त्यागकर परमात्मा द्वारा निर्मित इस देह को मन्दिर जाने एवं इस देह मन्दिर में विराजमान चेतन, आत्म सत्ता को ही साक्षात् परमात्मा रूप जाने ।

**यतच्छौचं भवेद्वाह्यममानसम् मननं विदु:।**
**अहं शुद्ध इतिज्ञानं शौचमाहुर्मनीषिण:।।**

१/२० : जावाल द. उप.

**ज्ञानशौचं परित्यज्य बाह्ये यो रमते नर:।**
**स मूढ: कान्चनं त्यक्त्वा लोष्टं गृहणाते सुब्रत।**

१/२२ : जावाल द. उप.

**ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिन: ।**
**न चास्ति किन्चित् कर्तव्यं अस्ति चते न स तत्त्ववित्।।२३।।**

१/२३ : जावाल द. उप.

# अवधूत संन्यासी की महिमा

**तद् दर्शनेन सकलं जगत्पवित्रंभवति । तत्सेवापरोऽज्ञोपि मुक्तो भवति । तत्कुलम् एकोत्तरशतं (१०१) तारयति । तन्मातृ पितृ जाया पत्यवर्ग च मुक्तं भवतत्यिुपनिषत् ।।१।।** (मण्डल ब्राह्मण उप. ५/१)

उस परमहंस अवधूत संन्यासी के दर्शन से समस्त जगत् पवित्र हो जाता है । उसकी सेवा में तत्पर रहने वाला अज्ञानी भी मुक्त हो जाता है और वह अपने कुल की एक सौ पीढ़ियों को तार देता है । उसके माता, पिता, स्त्री भी मुक्त हो जाते हैं । ऐसा उपनिषद का कथन है ।

संन्यासी के लिये, शहद, शराब, उड़द के पदार्थ, गोमांस व दूध कुत्ते के मूत्र के समान निषिद्ध है । इसलिये उसे इन वस्तुओं का सेवन नहीं करना चाहिये । हाथ ही बर्तन रूप है । दिन में एक बार ही भोजन ले । एक घर पर दूसरी बार भोजन न ले । (संन्यास उप.)

जो उस ज्ञानी महापुरुष से द्वेष करता है उस दुष्ट को, उन ज्ञानी महात्मा के त्यागे हुए पापांश की प्राप्ति होती है । परन्तु जो श्रद्धालु उन महात्मा से प्रेम करते हैं, वे उन सन्त के किये पुण्यांश का भोग करते हैं। उन ज्ञानी संत को तो पुण्य–पाप स्पर्श ही नहीं करते हैं ।

जैसे रथ पर बैठा व्यक्ति रथ के चक्रों का पृथ्वी के साथ संयोग वियोग को देखता है उस रथारोही का उस चक्र व पृथ्वी के संयोग वियोग से कोई सम्बन्ध नहीं रहता है ।

इसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी पुरुष दिन–रात्रि को, पाप–पुण्यों को, उचित–अनुचित दृश्य को देखता है, परन्तु वह द्रष्टा भाव रखने वाला

ज्ञानी उन सभी क्रियाओं से सम्बन्ध रहित असंग ही रहता है । इसलिए पुण्य–पाप उसे स्पर्श नहीं करते हैं। अतः वह ब्रह्मज्ञान के कारण ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है । (कौषितकी ब्राह्मण उप.)

जो सोऽहम् रूप का ज्ञाता है, उसे कोई महापाप स्पर्श नहीं करपाते हैं । माता, पिता, गुरु की हत्या, गर्भपात आदि जैसे पाप भी स्पर्श नहीं करते हैं । वह कर्तापन के अभिमान से रहित होने के कारण किसी कर्मफल का भागी नहीं होता है । पाप की प्रवृति जाग्रत होने पर भी उसके मुख की कान्ति पर कालापन नहीं होता बल्कि पूर्ववत् तेज पन ही झलकता रहता है ।

नित्य शुद्ध परमात्मा मैं हूँ । इस प्रकार तत्त्वमसि महावाक्य का गुरु द्वारा उपदेश प्राप्त होने से तू ही मैं हूँ, मैं ही तू है ऐसा ओत–प्रोत भाव से निश्चय कर कृतार्थ होता है । परमात्मा अखण्ड, सर्वव्यापक होने से 'तू ही मैं हूँ' अर्थात् सोऽहम् भावना का अनुभव करना चाहिये ।

परमात्मा को जो शुद्धात्मा दृष्टि द्वारा अपने में देखता है वही ब्रह्मनिष्ठ अपरोक्ष ज्ञानी महात्मा है, वही आत्मनिष्ठ है । बुद्धि से निश्चय करने वाले आत्मवेत्ता कहलाते हैं । अपने को आत्मा जानने वाले ही अनन्य आत्मनिष्ठ है । जैसे स्त्रियों में सती साध्वी नारी कोई एक होती है, इसी प्रकार आत्मवेत्ताओं में आत्मनिष्ठ कोई एक ही होता है ''**मनुष्याणां सहस्त्रेषु**''गीता७/३ '**स महात्मा सुदुर्लभः**'गीता७/१९ । जीव जब स्थूल शरीर का अहंकार छोड़कर यह निश्चय करता है कि मैं परमात्मा हूँ तब जीवन्मुक्त होता है । इस प्रकार के ब्रह्मनिष्ठ के दर्शन से जीवन मुक्त दशा प्राप्त हो जाती है । 'मैं ब्रह्म हूँ' और यह सब ब्रह्म है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' ऐसा निश्चय करने वाला कृत–कृत्य हो जाता है ।

यह जीव जाग्रत के अभिमान से विश्व, स्वप्नावस्था के अभिमान से तैजस, सुषुप्ति अवस्था के अभिमान से प्राज्ञ कहलाता है । मैं ब्रह्म हूँ मेरे अतिरिक्त अन्य किंचित् भी नहीं, जब ऐसा बोध हो जाता है, तब मैं ही विश्व, मैं ही तैजस, मैं ही प्राज्ञ और मैं ही शुद्ध चैतन्य अद्वय ब्रह्म हूँ । अखण्ड ब्रह्म ज्ञान के उदय होने से सभी भेद भावनाएं नष्ट हो जाती है ।

प्रज्ञा अर्थात् ज्ञान के द्वारा ही इन्द्रियों के समस्त कर्म होते रहते हैं । बिना ज्ञान के देह संघात् की कोई भी क्रिया सम्पन्न नहीं होती है । मेरा मन कहीं ओर था, मेरी बुद्धि नहीं समझ पाई है–इस प्रकार मन, बुद्धि को जिसके द्वारा जाना जाता है, वह ज्ञान एक ही है । वह तुम ही हो ।

प्रज्ञाहीन इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, वाक्, हस्त, पाद, लिंगादि अपना कोई ज्ञान नहीं कर सकते ।

इन इन्द्रियों एवं उनके विषय को जानने का कोई लाभ नहीं प्रत्युत् इन समस्त त्रिपुटियों को जो सत्ता प्रेरित करती है उस आत्मा को मैं रूप से जानना चाहिये कि यही साक्षात् आत्मा मैं हूँ । यह दृढ़ आत्मनिष्ठा ही सहज ध्यान, सहज समाधि, जीवन्मुक्त दशा है ।

सब कुछ उसी अखण्ड, सर्वव्यापि, अन्तर्यामी परमात्मा में पुष्पमाला में सूत्र की तरह पिरोया हुआ है । वह सनातन सत्य है, वही परमपद है और वही आत्मा मैं हूँ ।

जिस प्रकार पुष्प में सुगन्ध, दूध में घृत, तिलों में तैल, पत्थर में स्वर्ण, पृथ्वी में धातु, पेट्रोल आदि छुपे हुए हैं उसे युक्ति द्वारा प्राप्त किया जाता है । इसी प्रकार समस्त प्राणियों में परमात्मा विद्यमान है उसे सत्गुरु के सानिध्य में विवेक–विचार, श्रवण–मनन द्वारा मैं रूप से अनुभव किया जाता है ।

**विषयी विषयासक्तो याति देहान्तरे शुभम् ।**
**ज्ञानादेवास्य शास्त्रस्य सर्वावस्थोऽपि मानवः ।।** (५० ब्रह्म उप.)

# ब्रह्मज्ञान के अधिकारी

**ना पुत्राय प्रदातव्यं नाशिष्याय कदाचन ।**
**गुरुदेवाय भक्ताय नित्य भक्ति पराय च ।।** ४७ ब्रह्म. उप.

जो आज्ञाकारी पुत्र अथवा शिष्य, गुरु का सच्चा भक्त हो और नित्य भक्ति परायण हो ऐसे को ही यह परम, पवित्र परम गोपनीय राज विद्या गुरु द्वारा शिष्य को प्रदान करना चाहिये । किन्तु जो पिता व गुरु की आज्ञा पालन नहीं करता है, जो सेवा परायण नहीं है, उस अश्रद्धालु को यह राज विद्या कभी नहीं देना चाहिये ।

**प्रदातव्यमिदं शास्त्रं नेतरेभ्यः प्रदापयेत ।**
**दाताऽस्य नरकं याति सिध्यते न कदाचन ।।** ४८ ब्रह्म. उप.

यदि कोई अनाधिकारी पुत्र या शिष्य को यह परमपवित्र, परम गोपनीय विद्या प्रदान करता है तो वह ब्रह्म विद्या प्रदाता गुरु शिष्य सहित नरक जायगा ।

**इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।**
**न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ।।** गीता : १८/६७

यह गीता रूप रहस्यमय उपदेश किसी भी काल में तितिक्षा रहित मनुष्य को कभी नहीं कहना चाहिये । न भक्ति रहित व्यक्ति से, न बिना सुनने की इच्छा वाले से तथा परमात्मा में दोषदृष्टि वाले से तो कभी भी नहीं कहना चाहिये ।

**गृहस्थो ब्रह्मचारी वा वानप्रस्थोश्च भिक्षुकः ।**
**यत्र तत्र स्थितो ज्ञानी परमाक्षरवित्सदा ।।** ४९ ब्रह्म. उप.

ब्रह्मज्ञानी चाहे ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी कोई भी हो एवं कहीं भी रहता हो चाहे तीर्थ स्थल हो या यात्रा काल में चाण्डाल के गृह में प्राण निकल जावे वह नित्य शुद्ध ही है । वह परमात्मा को अपने सहित सब रूपों में एक अनुभव करने वाला परम पवित्र ही है ।

**मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।**
**स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।।**

९/३२ गीता

जो पूर्व जन्म या वर्तमान जीवन में पाप कर्म करचुके हैं और वे वर्तमान मेरे अनन्य भक्ति परायण होने वाले चाहे स्त्री, वैश्य, शूद्र, चोर, पर स्त्री भोगी, दुराचारी, व्यभिचारी, ही क्यों न हो वे निसन्देह द्रष्टा, साक्षी आत्म स्वरूप को वाणी से ही नहीं बल्कि आत्मा से जान कर परमगति को ही प्राप्त होते हैं ।

**यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।**
**तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।।** ६/२३ : श्वेता.उप.

जैसी अज्ञान काल में परमात्मा के कल्पित चित्र, मूर्ति में अपने कल्याणार्थ श्रद्धा, भक्ति, प्रेम होता है, उसी तरह जीवन्मुक्ति पाने हेतु जब जीवित सद्गुरु में भगवान् की तरह भक्ति होती है; तब ऐसे अन्तःकरण में गुरु द्वारा परमात्मा का बताया हुआ ज्ञान एवं आत्म भाव जाग्रत होता है । उसी को जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है ।

# बन्धन से मुक्ति

**वासना द्विविधा प्रोक्ता शुद्धा च अशुद्धा तथा ।**
**अशुद्धा जन्म हेतुः स्याच्छुद्धा जन्मविनाशिनी ।।**

२/६१ मुक्तिक. उप.

वासनाएँ दो प्रकार की होती है । शुद्ध वासना तथा मलिन वासना । मलिन वासना बन्धन का हेतु तथा शुद्ध वासना मुक्ति का हेतु कहा गया है ।

मलिन वासना क्या है ? अपने वास्तविक स्वरूप को न जान अपने को देह, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा कर्ता–भोक्ता बद्ध जीव मानना ही मलिन वासना है । अर्थात् अनात्म देह संघात् से एकत्व मानलेना ही जीव के बन्धन का प्रमुख कारण है ।

देह के साथ एकत्व : – मैं मनुष्य स्त्री–पुरुष, सुन्दर–असुन्दर, लम्बा–छोटा, दुर्बल–मोटा, बालक–किशोर, यूवा–प्रौढ़,वृद्ध तथा जन्म मृत्युवान हूँ । इसके अतिरिक्त हिन्दु, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र, ब्रह्मचारी गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी (भिक्षुक) सधवा–विधवा, विवाहित–विदुर इत्यादि अनात्म देह में कल्पित उपाधियों को अपना रूप मानना ही बन्धन का कारण है ।

शुद्ध वासना क्या है ? मैं सत्–चित्–आनन्द, द्रष्टा, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, अखण्ड, असंग, निष्क्रिय, निर्विकार, अकर्ता –अभोक्ता, साक्षी ब्रह्मात्मा हूँ इस प्रकार अपने वास्तविक स्वरूप का बोध जाग्रत हो जाना ही जीव की मुक्ति का हेतु कहा जाता है । इस आत्मनिष्ठा के

अतिरिक्त मुक्ति पाने का अन्य कोई मार्ग नहीं है । जैसे अज्ञान काल में देह के नाम, जाति, सम्बन्धियों को अपना जाना जाता है, उसी प्रकार अपने को हृदय से द्रष्टा, साक्षी, आत्मा जानना ही शुद्ध वासना है जो जीवन्मुक्ति का हेतु है। २/१५ वराह उप.

**द्वे पदे बन्धमोक्षाय निर्ममेति ममेति च ।**
**ममेति बध्यते जन्तु र्निर्ममेति विमुच्यते ।।** २/४३ वराह उप.

'निर्मम' तथा 'मम' ये दो पद ही बन्ध–मोक्ष का कारण है । 'मम' – मेरा ऐसा कहने से जीव को बन्धन होता है तथा 'निर्मम' यह मेरा नहीं ऐसा जानने से जीव की मुक्ति होती है ।

**अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।** गीता. २/२५

हे आत्मन् ! यह अपना आत्म स्वरूप मन, बुद्धि के द्वारा सोचने, विचारने योग्य नहीं है । मन, बुद्धि का विषय अनित्य संसार है । अनित्य कर्म, उपासना साधन द्वारा नित्य तत्त्व रूप मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती । **नास्त्यकृतः कृतेन** (मुण्डक. १/२/१२) विकार रहित अव्यक्त आत्मा का चिन्तन विकारी शरीर, इन्द्रिय, मन द्वारा नहीं हो सकता ।

**यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।**
**तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ।।**

६/२० श्वेताश्वत्तर उप.

यदि कोई आकाश को चर्मवत् लपेट सके तो वह बिना ब्रह्मज्ञान अर्थात् सोऽहम् ज्ञान के कल्याण को प्राप्त हो सकता है । इस द्रष्टान्त से यह सिद्ध हुआ कि आकाश को आसन की तरह लपेटना जैसे असम्भव है, इसी प्रकार बिना आत्मज्ञान के मोक्ष भी असम्भव है ।

# निरुपाय क्यों ?

**अत्यन्त मलिनो देहो देही चात्यन्तनिर्मलः ।**
**उभयोरन्तरं ज्ञात्वा कस्य शौचं विधियते ।।**

२/६७ मुक्तिक. उप.

यह देह तो अत्यन्त मलिन है और देह में रहने वाला देही आत्मा अत्यन्त निर्मल है । अब देह को शुद्ध करने का कोई साधन या औषधि नहीं है तथा आत्मा नित्य, शुद्ध स्वभावी होने से उसे किसी कर्म द्वारा मलिन नहीं किया जा सकता ।

देह मलिन क्यों है ? पंच भूतों का विकार है अथवा माता–पिता के रज–वीर्य धातु का पिण्ड है इसलिये इसे भगवान श्री रामजी द्वारा भी रामायण में कहा है **'अति अधम शरीरा'** अस्तु देह को किसी मंत्र, औषधि, वस्त्र अलंकार या गंगा,यमुना आदि पवित्र तीर्थ स्नान द्वारा शुद्ध नहीं किया जा सकता । देह षड़ विकारी है – जन्मना, रहना, बढ़ना, युवा, वृद्धा तथा मृत्यु धर्मी है एवं मैं आत्मा षड़् विकार रहित निर्विकार, अजन्मा हूँ ।

आत्मा शुद्ध क्यों है ? क्योंकि यह निर्विकारी है अर्थात् देह की तरह आत्मा पंच भूतों का कार्य नहीं है । जो–जो कार्य होता है वह विकारी, नाशवान्, जड़ होता है जैसे शरीर । आत्मा किसी का कार्य नहीं है इसलिये नित्य है । आत्मा निष्क्रिय है इसलिये परम पवित्र है । जीवके जिस देह का प्रारब्ध भोग पूर्ण होने पर वह जीव उसका त्याग कर निकल जाता है तब उस मृतक को लोग स्पर्श करना नहीं चाहते हैं, न उसे घर में रखना चाहते हैं । यदि उसे न जलाया जाय तो उसमें पांच–सात दिन में

अत्यन्त दुर्गन्ध एवं कीड़े उत्पन्न हो जाते हैं, तब उसे घर ग्राम में कोई रखना नहीं चाहता । जब तक देह के साथ जीवात्मा का सम्बन्ध बना रहता है तभी तक यह अत्यन्त मलिन देह भी पूजा जाता है, स्नेह, सम्बन्ध मोह–ममता की जाती है किन्तु जीवात्मा से सम्बन्ध टूट जाने पर यही पति, पुत्र, पत्नी, माता–पिता का प्यारा देह भयानक अप्रिय हो जाता है एवं त्याग दिया जाता है। इन दोनों बातों को जाननेवाला न तो देह को शुद्ध करने के लिये चिन्तित होगा न आत्मा को शुद्ध करने का सोचेगा ।

## परमात्मा अचिन्त्य

**नान्त: प्रज्ञं न बहि: प्रज्ञं नोभयत: प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाऽप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशममं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ।**

माण्डुक्य उप.७

हे आत्मन् ! स्वरूप से वह आत्मा न अन्तःप्रज्ञ है न बहिष्प्रज्ञ है, न उभयः प्रज्ञ है, न सुषुप्ति के समान प्रज्ञानघन है, न प्रज्ञ है और न अप्रज्ञ, वह तो अदृश्य है । अतः अव्यवहार्य है । कर्मेन्द्रिय से ग्रहण के योग्य न होने से अग्राह्य है व अचिन्त्य है । इसलिये शब्द से वर्णन करना असम्भव है । जाग्रतादि अवस्थाओं में सदा रहने से एकात्मप्रत्ययसार है । प्रपञ्च के उपशम रूप शान्त, शिव और अद्वैत स्वरूप है । ऐसा आत्मा के विषय में तत्त्ववेत्ता मानते हैं । अतः वही आत्मा है और वही जानने योग्य है ।

**.......अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा ।।** ४/५/१४ बृहद्

यह आत्मा निःसन्देह अविनाशी है । इसमें विनाश या उच्छेद रूप विकार नहीं होता है ।

**यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति, तदितर इतर जिघ्रति, तदितर इतरं रसयते, तदितर इतरमभिवदति, तदितर इतरं शृणोति, तदितर इतरं मनुते, तदितर इतरं स्पृशति, तदितर इतरं विजानाति...... ।।** ४/५/१५ बृहद्

हे मैत्रेयी ! जिस अविद्यावस्था में ही द्वैत सा प्रतित होता है, वहाँ पर ही अन्य, अन्य को देखता है । अन्य–अन्य को सूँघता है । अन्य–अन्य का रस लेता है । अन्य–अन्य को कहता है । अन्य–अन्य को सुनता है । अन्य–अन्य को मनन करता है । अन्य–अन्य को छूता है । अन्य–अन्य को विशेष रूप से जानता है ।

**येनेदम् सर्वम् विजानाति, तं केन विजानीयात्**
**विज्ञातारमरे केन विजानीयाद्** ४/५/१५ बृहद्

हे आत्मन् ! अद्वितीय परमात्मा का कौन चिन्तन कर सकेगा ? जहाँ द्वैत है वहीं पर कोई किसीको देखता है । कोई किसीको सूंघता है । कोई किसीको सुनता है । कोई किसीका चिन्तन करता है । कोई किसीका मनन, ध्यान करता है । कोई किसीको जानता है ।

अब जहाँ कोई दूसरा है ही नहीं वहाँ कौन किसको देखेगा ? किसे कौन सुनेगा, कौन किसका मनन करेगा ? कौन किसका ध्यान, चिन्तन करेगा ? कौन जानेगा ? जहाँ केवल एकमात्र मेरे सिवा अन्य कुछ नहीं, कोई नहीं, यहाँ तो केवल अपने विस्मृत स्वरूप की स्मृति करना ही एक मात्र प्रयोजन है ।

# ज्ञान से ही मुक्ति

**ज्ञानेनैव हि संसार विनाशो नैव कर्मणा ।**
**श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं स्वगुरुं गच्छेद्यथा विधिः ।।** ३५ भावना उप.

जीव के जन्म-मरण रूप देहाध्यास के मूल बीज का नाश तो आत्मा ज्ञान द्वारा ही हो सकेगा । करोड़ों कर्मों के द्वारा कदापि नहीं हो सकेगा । अतः विधि पूर्वक श्रद्धा सहित किसी श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ ऐसे गुरु के पास आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिये चले जाना ही उचित है ।

अपने को जो सोऽहम् रूप ब्रह्माग्नि में सदा विलय करता है, वह ज्ञान यज्ञ अन्य सभी प्रकार के यज्ञों से सर्वोत्तम यज्ञ हैं ।

**श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतपः ।।** ४/३३ गीता

**अतः सर्वेषां कैवल्य मुक्ति र्ज्ञान मात्रेणोक्ता ।**
**न कर्म सांख्य योगोपासानादिभिः ।।** मुक्ति उप. १

सब जीवों की कैवल्य मुक्ति ज्ञान द्वारा ही कही गयी है कैवल्य मुक्ति तो कर्म, सांख्य, योग, उपासना के द्वारा नहीं हो सकती ।

**देहात्मज्ञानवज्ज्ञानं देहात्मज्ञानबाधकम् ।**
**आत्मन्येव भवेद्यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते ।।** २/१५, वराह उप.

अनेक जन्मों के दृढ़ संस्कारों से जिस प्रकार जीव को **देह ही मैं हूँ** इस प्रकार भ्रान्ति बोध दृढ़ हो जाता है, जो जीव के संसार बन्धन अर्थात् जन्म-मरण का मुख्य कारण है । इस देहाध्यास की तरह इसके विपरीत **मैं आत्मा हूँ** ऐसा दृढ़ बोध जिसे हो जाता है वह बिना इच्छा के भी मुक्त हो जाता है ।

अतः जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त जो कुछ हमें माता–पिता से, परिवार से समाज से बन्धन रूप भ्रान्त ज्ञान प्राप्त हुआ है, वह सब मैं नहीं हूँ वह सब मेरा नहीं है इस दृढ़ ज्ञान से ही जीव मुक्त हो जाता है । इसके अतिरिक्त मुक्ति का कोई अन्य स्वतन्त्र मार्ग नहीं है ।

'यथा मति तथा गति' यह बात जगत् में प्रसिद्ध है । जब भावना के द्वारा ही कल्याण हो जाता है तब फिर हम शुभ भावना, श्रेष्ठ भावना, ब्रह्म भावना कर क्यों न शिघ्र अपने कल्याण करलें ? फिर क्यों अपने में हीन भावना, जीव भावना, देह भावना, कर्ता–भोक्ता भावना, बन्ध भावना करें ? जप, तप, तीर्थ, मन्दिर, पूजा, पाठादि, कर्म, उपासना, योगादि साधन कर बन्धन को और अत्यधिक लम्बा या दृढ़ क्यों बनावे ?

जो चीज अज्ञान से कल्पित हुई है उसे ज्ञान द्वारा ही नष्ट किया जा सकता है । जीव का बन्धन अज्ञान कृत होने से ही इसका नाश ज्ञान द्वारा हो सकता है । कर्म द्वारा कभी नहीं ।

**चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तुपलब्धये ।**
**वस्तु सिद्धि र्विचारेण न किंचित् कर्म कोटिभिः ।।**

–११ विवेक चूड़ामणि

इसलिये मोक्ष की इच्छा रखने वाले साधक को कर्म, उपासना आदि साधन नहीं करना चाहिये क्योंकि इसके द्वारा किये गये कर्मों का इसे फल भोगने हेतु पुनर्जन्म लेना ही पड़ेगा ।

**पाषाण लोहमणि मृणमयविग्रहेषु पूजा पुनर्जन्म भोगकारी मुमुक्षोः ।**
**तस्माद्यतिः स्वहृदयार्चनमेव कुर्यात्बाह्यर्चनं परिहरेद पुनर्भवाय ।।**

२/२६, मैत्रय. उप.

पत्थर, लोह, मिट्टी, लकड़ी आदि धातु द्वारा बनाई मूर्तियों की पूजा द्वारा मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकेगी । जो स्वयं अनित्य है उनकी पूजा द्वारा नित्य वस्तु आत्मा की प्राप्ति नहीं हो सकेगी । अतः मोक्ष की इच्छा रखने वाले साधकों को कर्म, उपासना का त्याग कर आत्मज्ञान को ही प्राप्त करने हेतु किसी श्रोत्रिय–ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जाना चाहिये ।

**परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्य कृतः कृतेन ।**
**तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।।**

मुण्डक १/२/१२

मुक्ति के इच्छूक वाले ब्राह्मण को किंचित् भी कर्म करना जरूरी नहीं है । क्योंकि अनित्य कर्म, उपासना के द्वारा नित्य परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकेगी । नित्य परमात्मा की प्राप्ति तो केवल आत्म ज्ञान से ही हो सकेगी । उस आत्मज्ञान को पाने के लिये उसे किसी श्रोत्रिय–ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाना होगा ।

**तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।**
**उपदेक्षन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ।।** ४/३४ : गीता

उस ज्ञान को तू तत्त्वदर्शी ज्ञानी सद्गुरु के पास जाकर समझ, उनको भली भाँति दण्डवत् प्रणाम कर, उनकी सेवा करने से और कपट छोड़कर सरलता पूर्वक प्रश्न करने से वे परमात्म तत्त्व को भली भाँति जानने वाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञान का उपदेश करेंगे ।

**न कर्मणा न प्रजया न चान्येनापि केनचित् ।**
**ब्रह्मवेदनमात्रेण ब्रह्माप्नोत्येव मानवः ।।** ९, कठ रूद्र उप.

जीव को मुक्ति की प्राप्ति कर्मों से नहीं, पुत्र, पौत्रादि संतति से भी नहीं होती है । प्रत्युत् वह ब्रह्म मैं हूँ, यह अनित्य देह संघात् मैं नहीं हूँ इस प्रकार के यथार्थ आत्मबोध द्वारा ही मानव ब्रह्म की प्राप्ति करता है ब्रह्म प्राप्ति के लिये आत्मज्ञान से रहित कोई अन्य स्वतंत्र मार्ग नहीं है ।

**प्रमादो ब्रह्मनिष्ठायां न कर्तव्यः कदाचन ।**
**प्रमादो मृत्युरित्याहुर्विद्यायां ब्रह्मवादिनः ।।** १४, अध्यात्म. उप.

मैं ब्रह्म हूँ इस ब्रह्मनिष्ठा में कभी सन्देह नहीं करना चाहिये क्योंकि ब्रह्मनिष्ठा से हटते ही देहभाव, कर्ताभाव राग–द्वेषादि कुसंस्कार जाग्रत होने में देर नहीं लगती । अतः ब्रह्मनिष्ठा को भुला देना ही मृत्यु है ऐसा ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी महापुरुष कहते हैं ।

**कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते ।**
**तस्मात कर्मन कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ।।** २/९८ संन्यास. उप

शुभाशुभ कर्म करने से जीव को दोनों ओर से बन्धन मिलता है और आत्म ज्ञान से सदा मुक्त रहता है । अतः तत्त्व का दर्शन करने वाले ज्ञानी लोग कर्म को बन्धन रूप जान उनका त्याग कर अपने आत्मनिष्ठा साक्षी भाव में ही रमण करते हैं ।

**नाहं दुःखी न मे देहो बन्धः कोऽस्यात्मनि स्थितः ।**
**इति भावानुरूपेण व्यवहारेण मुच्यते ।।** ४/१२६, महोपनिषद

मैं द्रष्टा साक्षी आत्मा हूँ, मेरा देह नहीं ,मैं देह नहीं हूँ इस प्रकार के ज्ञान मात्र से जीवमुक्त हो जाता है । मुक्ति के लिये इस आत्मज्ञान के अलावा कोई अन्य साधन नहीं है ।

**न धनान्युप कुर्वन्ति न मित्राणि न बान्धवाः ।**
**न कायक्लेशवैधुर्यां न तीर्थायतनाश्रयाः ।।**
**केवलं तन्मनोमात्रलये नासाद्यते पदम् ।।** ४/२८ महोपनिषद

परमात्मा की प्राप्ति, मुक्ति की प्राप्ति, परमानन्द की प्राप्ति, न केवल धन द्वारा हो सकती है, न बान्धव, न पुत्र, न मित्र, न शरीर को कष्टप्रद व्रत, उपवास, तपस्या से, न एकान्त वास, न तीर्थाटन, न तीर्थवास, न प्रतिमा पूजन द्वारा हो सकती है । परमात्मा की प्राप्ति देह भाव की तरह अखण्ड ब्रह्मनिष्ठा से ही होती है । परमपद की प्राप्ति अन्य किसी साधन द्वारा नहीं होती है ।

**नान्यः पन्था विद्यतेऽनाय,** ६/१५ : श्वेत उप.

**ज्ञानामृत तृप्तयोगिनोन किञ्चित्कर्तव्यमस्ति ।**
**तदस्ति चेन्न स तत्त्व विद्भवति ।।** ४/९ पैङ्गल. उप.,९/२३ जाबाल. उप.

मैं द्रष्टा, साक्षी, आत्मा, ब्रह्म हूँ इस प्रकार का जिन ज्ञानियों को अपने देहभाव की तरह दृढ़ बोध हो गया है अब उसे अपने कल्याण सम्बन्ध में अन्य कुछ भी साधन करने की किञ्चित् भी आवश्यकता नहीं है । यदि वह अपने कल्याण के लिये कुछ कर्म, उपासना, योगादि बाह्य

साधन करना कर्तव्य मानता है तब वह तत्त्ववित् नहीं है । उसे मूर्ख पण्डित ही जानना चाहिये ।

'**तस्य कार्यं न विद्यते**' आत्मज्ञानी के लिये कोई भी अपने कल्याण सम्बन्धी कर्म करना कर्तव्य नहीं । गीता ३/१७

**अद्वितीय ब्रह्म तत्त्वं न जानान्ति यथा तथा ।**
**भ्रान्ता एवाखिलास्तेषां क्व मुक्तिः क्वेह वा सुखम् ।** २/५७ बराह उप.

जो पण्डित चार वेद, षड्दर्शन का ज्ञाता है, बड़े–बड़े अश्वमेध यज्ञ करने वाला है, बहुत कठिन तप, व्रत उपवास करने वाला, नाना देवी देवता की उपासना करने वाला भी है किन्तु वह अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व को मैं रूप से नहीं जानता है जो वह भ्रान्त मनुष्य है । उसकी दुःखों से मुक्ति कभी नहीं हो सकेगी । न सुख मिल सकेगा ।

**चतुराई चूल्हे पड़े मत पड़े अचार ।**
**तुलसी आत्मज्ञान बिना चारों वर्ण चमार ।।**

**पौथी पढ़ पढ़ जग मरा, पण्डित भया न कोय ।**
**दोऊ अक्षर प्रेम के पढ़े सो पण्डित हाय ।।**

**अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद परोक्षज्ञानमेव तत् ।**
**अहं ब्रह्मेति चद्वेद साक्षात्कारः स उच्यते ।** २/४९ बराह उप.

'**अस्तिब्रह्मेति**' ब्रह्म 'है' ऐसा मानना ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान कहलाता है । **'अहं ब्रह्म' 'मैं ब्रह्म हूँ'** इस प्रकार देहभाव की तरह अपने को दृढ़निष्ठा से ब्रह्म रूप जानना ही आत्मसाक्षात्कार या अपरोक्ष ज्ञान कहलाता है ।

**नाहं ब्रह्मेति जानाति तस्य मुक्तिर्न जायते ।।** ४/२३ पैङ्गल उप.

सद्गुरु का उपदेश श्रवण कर के भी जो देहाभिमानी, मताग्रही, हठी स्वभाव का व्यक्ति अपने को ब्रह्मरूप, आत्मरूप, द्रष्टा रूप, साक्षी रूप नहीं मानता है और मैं ब्रह्म नहीं हूँ इस प्रकार विपर्यय बुद्धि वाला, उल्टी मति का जो व्यक्ति है उसकी मुक्ति फिर १०० ब्रह्माओं के बीत जाने

तक भी नहीं हो सकेगी ।

**अविचार कृतो बन्धो विचारान्मोक्षो भवति ।**
**तस्मात् सदा विचारयेत् ।।** पैङ्गल. उप. २८

अपने यथार्थ आत्म स्वरूप का विचार न करने वाला अज्ञानी व्यक्ति ही बन्धन को प्राप्त होता है तथा मैं द्रष्टा, साक्षी, आत्मा हूँ इस विचार से ही मुक्त होता है । अतः साधक को 'मैं ब्रह्म हूँ' इसी ब्रह्मनिष्ठा को निरन्तर चिन्तन श्रवण, मनन आदि साधन द्वारा परिपक्व करना चाहिये ।

**तं यथायथोपासते तथैव भवति । तस्मान् ब्राह्मणः पुरुष रूपं परब्रह्मैवाहमिति भावयेत् । तद्रूपोभवति य एवं वेद ।।**

३. मुद्गल उप.

उपासक जिस जिस भाव से उस परमात्मा की उपासना करता है, वह उपासक उसी रूप को प्राप्त करता है । अतः उपासक को जीव भाव न कर मैं ही परब्रह्म परमात्मा हूँ' ऐसी भावना सदा करनी चाहिये । इस प्रकार ब्रह्म भावना सदा करने वाला पुरुष ब्रह्म रूप ही होता है ।

**देहो देवालयः प्रोक्तः स जीवः केवलः शिवः ।**
**त्यजेदज्ञान निर्माल्यं सोऽहं भावेन पूजयेत् ।।** १० स्कन्द. उप.

देह को मन्दिर (देवालय) जानना चाहिये एवं इसमें रहने वाले सर्व द्रष्टा, सर्वाधिष्ठान, स्वयंप्रकाश को शिव, परमात्मा जानना चाहिये । देहभाव, कर्ताभाव, जीवभाव बद्धभाव रूप अज्ञान अन्धकार को सद्गुरु कृपासे दूर कर सदा सर्व देहों में मैं ही शिव हूँ ऐसा जानना चाहिये ।

**अज्ञान देव संसारो ज्ञानादेव विमुच्यते ।।** १६ योगतत्त्व उप.

अपने को जन्म मृत्यु, भूख–प्यास, सुख–दुःख, चंचल, काम, क्रोध युक्त बद्ध जीव मानना ही संसार भ्रमण का कारण है तथा मैं देही आत्मा हूँ देह संघात् से सर्वथा असंग, साक्षी, आत्मा हूँ । इस ज्ञान से ही जीव मुक्त होता है ।

**तावज्जीवो भ्रमत्येवं यावत्तत्त्वं न विन्दति ।।** ५० ध्यान बिन्दु. उप.

जब तक जीव ब्रह्मतत्त्व को मैं रूप से भली प्रकार संशय रहित हो नहीं जानता है, तभी तक इस जीव को जन्म–मरण के चक्र में भ्रमण करना पड़ता है । बिना आत्मज्ञान प्राप्ति के जीव के बन्धन का नाश अन्य किसी साधन से नहीं हो सकता ।

**योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्ष कर्माणि ।**
**तस्माज्ज्ञानं च योगं च मुमुक्षुर्दृढमभ्यसेत् ।।** १५ योगतत्त्व उप.

ज्ञान रहित योग जीव को मोक्ष देने में सक्षम नहीं है । अतः मोक्ष के साधक को ज्ञान तथा योग दोनों का ही अभ्यास करना चाहिये । ब्रह्मजिज्ञासा उदय होने पर तो कर्म, उपासना का फल सहित त्याग कर किसी श्रोत्रिय–ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में ही जाना चाहिये ऐसा उपदेश श्रीराम ने अपने भाई लक्षणम को अध्यात्म रामायण में किया है ।

**दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येत्ब्रह्ममयं जगत् ।**
**सा दृष्टिः परमोदारा न नासाग्रावलोकिनी ।।** १/२९ तेजो बिन्दु उप.

साधक मैं ब्रह्म हूँ इस प्रकार की ज्ञानमयी दृष्टि को बनाएँ और समस्त जगत् को ब्रह्ममय जाने । यही दृष्टि परम आदरणीय है । केवल नासाग्र को देखने वाली दृष्टि आदरणीय नहीं है ।

**नाहं देहो जन्म मृत्यु कृतो मे, नाहं प्राणः क्षुत् पिपासे कृतो मे ।**
**नाहं चेतः शोक मोहौ कुतो मे, नाहं कर्ता बन्ध मोक्षौ कुतो मे ।।**

६ सर्वसार उप.

मैं देह नहीं हूँ फिर मुझे जन्म–मरण कहाँ से हो ? मैं प्राण नहीं हूँ तो फिर मुझे भूख प्यास कैसे लगे ? मैं मन नहीं हूँ तब शोक–मोह मुझे कैसे हो सकते हैं ? मैं कर्ता–भोक्ता नहीं हूँ तो बन्ध मोक्ष भी मुझे कैसे हो सकेंगे ?

वेदान्त द्वारा जानने योग्य तत्त्व सच्चिदानन्द ब्रह्म मैं हूँ। मैं आकाश वायु, तेज, जल, पृथ्वी रूप जड़ भूत नहीं हूँ । मैं निराकार आत्मा अशरीरी हूँ । मेरा कोई नाम, जाति, आश्रम, सम्बन्धी भी नहीं है ।

इसलिये मुझ निराकार आत्मा के लिये अज्ञानी लोगों की तरह कर्म, उपासना करना भी नहीं है । वरन् मैं बिना किसी साधन अपेक्षा के स्वयं सिद्ध सच्चिदानंद रूप ब्रह्म ही हूँ ।

**उत्तमा तत्त्वचिन्तैव मध्यमं शास्त्रचिन्तनम् ।**
**अधमा मन्त्रचिन्ता च तीर्थ भ्रान्त्यधमाधमा ।।** २/२१ मैत्रेय उप.

तत्त्व चिन्तन अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ यह सब से उत्तम चिन्तन है । शास्त्र चिन्तन मध्यम श्रेणी का है । मन्त्र चिन्तन अधम श्रेणी का है । तीर्थ भ्रमण, तीर्थ वास अत्यन्त निकृष्ट महा मन्द मति के मूढ लोगों के लिये है । अतः अपने ब्रह्म स्वरूप का नित्य ध्यान रखना चाहिये ।

**जाग्रत् स्वप्न सुषुप्त्यादि प्रपंचं यत्प्रकाशते ।**
**तत्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्व बन्धैः प्रमुच्यते ।।** १७ कैवल्य उप.

जब किसी सद्गुरु की कृपा से जीव यह जान लेता है कि जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, ध्यान, समाधि आदि अवस्थाओं में जो माया प्रपंच दिखाई पड़ता है उसे जो जानता है तथा जिस की शक्ति द्वारा यह जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीन अवस्था तथा मुर्छा, ध्यान, समाधि प्रपंच जाने जाते हैं, प्रकाशित किये जाते हैं वह ब्रह्म स्वयं प्रकाश मैं ही इस प्रकार जानने वाला सब बन्धनों से मुक्त होता है ।

**मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।**
**मयि सर्वं लयं याति तद्ब्रह्माद्वयमस्म्यहम् ।।** १९ कैवल्य उप.

यह समस्त दृश्यादृश्य प्रपंच मुझसे ही उत्पन्न होता है अर्थात् मुझ चैतन्य आत्मा से ही यह जड़ दृश्य संसार उत्पन्न होता है, मुझ में ही सब चराचर जगत् प्रतिष्ठित है अर्थात् मुझ चैतन्य सत्ता को पाकर ही यह सब अपनी दिनचर्या करते हैं और अन्त में अपना कर्म एवं भोग पूरा कर मुझ आत्मा में ही ज्ञान पाकर सदा के लिये लीन हो जाते हैं । मैं ही सब भूतों का आदि, मध्य तथा अन्त हूँ ।

**ज्ञाननेत्र समादाय चरेद्वह्निमतः परम ।**
**निष्कलं निर्मलं शान्तं तद्ब्रह्माहमितिस्मृतम् ।।२१।।**

श्रोत्रिय–ब्रह्मनिष्ठ सद्‌गुरु द्वारा अपने देहाध्यास का त्याग कर पंचभ्रान्ति से मुक्त होकर इस ज्ञानमयी दृष्टि को प्राप्त कर कलारहित निर्मल शान्त जो ब्रह्म है, वही ब्रह्म मैं हूँ, ऐसी भावना को निरन्तर करते रहना चाहिये ।

**यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।**
**तदा दैवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ।।**

६/२० श्वेताश्वत्तर उप.

जब मनुष्य का इतना सामर्थ्य हो जायगा कि वह आकाश को मृग चर्म के समान लपेट अपने बगल में दबा लेंगे तब उस परमात्मा को बिना जाने भी दुःखों का आत्यान्तिक नाश कर सकेंगे । इस कथन से यह प्रमाणित होता है कि बिना ज्ञान के ब्रह्म प्राप्ति को असम्भव बताया है । क्योंकि जब कोई निराकार एवं व्यापक आकाश को पकड़ ही नहीं सकता है तो फिर उसे लपेटना कैसे सम्भव होगा । अर्थात् असम्भव कार्य है ।

**एको हंसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्निःसलिले संन्निविष्टः ।**
**तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।।**

६/१५ श्वेताश्वर उप.

इस सम्पूर्ण संसार में एक परमात्मा ही ओतप्रोत है वही अग्निरूप से जलमें सन्निविष्ट भी है, क्योंकि कारण कार्य की सदा अभिन्नता रहती है । तेज का कार्य जल होने से जल अपने कारण तेज को भी अपने महोदर में सूक्ष्म रूप से छिपाये हुए है इसी तरह जीवों के इस नश्वर शरीरों में वह परमात्मा विद्यमान अवश्य है । इस सिद्धान्त को जानकर अपने को परमात्मा रूप जानकर यह जीव मृत्यु भयसे मुक्त हो जाता है । उसको जानने के अतिरिक्त परमात्मा को प्राप्त करने के लिये, मुक्ति प्राप्ति के लिये अन्य कोई मार्ग नहीं है ।

**ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्म मृत्युप्रहाणिः ।**

१/११, श्वेताश्वतर उप.

जीव को अपने परम कल्याण के लिये सब देहों में स्थित सब जीवों का बुद्धि एवं अवस्थाओं का साक्षी ब्रह्म मैं हूँ इस प्रकार ज्ञान करना चाहिये । इस प्रकार निरन्तर चिन्तन करने से सर्व बन्धन कट जाते हैं । क्लेशों के नष्ट होने पर जीव को जन्म-मरण वाले शरीर में प्रवेश नहीं करना पड़ता ।

**अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः ।**

श्वेताश्वतर उप. १/७

अपने हृदय स्थित परमात्मा का ही ज्ञान करना चाहिये । इससे दूसरा कोई पदार्थ जानने योग्य नहीं है । ब्रह्मज्ञानी अपने अन्तर में निवास करने वाले ब्रह्म को जानकर उसी में लीन हो जाते हैं ।

**तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।** ४/४/२१ बृहद.उप.

बुद्धिमान ब्राह्मण उस हृदय स्थित ब्रह्म को, वह मैं हूँ इस प्रकार ब्रह्मभाव में अपनी बुद्धि को दृढ़ करना चाहिये । अर्थात् सोऽहम् वृत्ति धारण करना चाहिये ।

**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते ।**
**येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति ।**
**तद्विजिज्ञासस्व । तद् ब्रह्मेति ।** २/९ तैतरीय उप.

समस्त प्राणी जिससे उत्पन्न होते हैं । उत्पन्न होकर जिसके आश्रय से ये प्राण धारण करते हैं एवं प्रलय काल में जिसमें यह सब लीन हो जाते हैं । उस ब्रह्म को तू विशेष रूप से जानने की इच्छा कर । वही ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप है । जिस नाम-रूप की यह दुनियाँ वाले उपासना करते हैं वह ब्रह्म का वास्तविक रूप नहीं है बल्कि वह माया का रूप है ।लोक मत में जो वर्तमान में मूर्ति रूप ब्रह्म बताया जाता है, वह ब्रह्म का असली रूप नहीं है । ब्रह्म का वास्तविकता सच्चिदानन्द है ।

**नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः ।**
**मूढ़ोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ।।** गीता : ७/२५

**यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।**
**अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ।।** २/३. केन उप.

जिस ब्रह्मवेत्ता को ब्रह्म अन्य दृश्य वस्तु की तरह विदित नहीं है वही ब्रह्म को जानता है । जिस शास्त्र पाठी या भक्त ने परमात्मा को अपने नेत्र का विषय बनाकर या मन का विषय बनाकर समझलिया कि मैं ब्रह्म को जानता हूँ वह मिथ्या अहंकारी ब्रह्म को नहीं जानता है क्योंकि ब्रह्म मन, वाणी, नेत्र का विषय नहीं प्रत्युत् सर्वसाक्षी सर्व प्रकाशक है ।

जो यह कहता है कि मैं ब्रह्म को दृश्य पदार्थ की तरह नहीं जानता, वास्तव में वही ब्रह्मज्ञानी है । और जो कहता है कि मैं जानता हूँ वह नहीं जानता है । केन उप. ११

**तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।** १/४. केन उप.

अज्ञानी लोग जिस प्राकृत नेत्र से देख जिसे परमात्मा बताते हैं, वह परमात्मा का वास्तविक रूप नहीं है अतः तुम उस दृश्य रूप कल्पित भगवान् की उपासना कभी मत करना । प्रत्युत् जिसकी शक्ति के अंश मात्र से यह देह संघात् अपना कार्य करता है वह ब्रह्म है उसे ही ब्रह्म जानना ।

**अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता**
**नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता**
**नान्योऽतोऽस्तिविज्ञातेष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्तम् ।**

३/७/२३ बृहद. उप.

परमात्मा दिखाई नहीं देता है किन्तु सबको देखता है । सुनाई नहीं देता है किन्तु सबको सुनता है । मन द्वारा मनन नहीं किया जाता है किन्तु वह मनका मनन करने वाला है । जो बुद्धि द्वारा विषय की तरह विशेष रूप से जाना नहीं जाता किन्तु विशेष रूप से जानता है । यह तुम्हारा आत्मा ही अन्तर्यामी अमृत है । इससे भिन्न सभी नश्वर है ।

**श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृणवन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः ।**
**आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ।।**

२/७ कठ. उप.

**आश्चर्य वत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव च अन्यः ।**
**आश्चर्य वच्चैनमन्यः श्रृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ।।**

२/२९ गीता

यह परम गोपनीय प्रत्यक्ष फलदायक परमपवित्र आत्मतत्त्व महान् पुण्य के अभाव में तो अधिकांश लोगों को सुनने को भी नहीं मिलता है जिस भाग्यशाली को गुरुकृपा से आत्म बोध प्राप्त हो जाता है, उसे फिर संसार में पुनर्जन्म प्राप्त नहीं होता है । अधिकांश मलिन बुद्धि वाले अभागे साधक सुनकर भी समझ नहीं पाते हैं। इस देव दुर्लभ आत्मतत्त्व के प्रवक्ता भी पृथ्वी पर दुर्लभ है । **'स महात्मा सुदुर्लभः'** गीता : ७/२९ अनेकों महात्माओं में से कोई अत्यन्त बिरला ही होता है जो इस परम गूढ़ विषय को सरलता से समझा पाता है। इसे प्राप्त करने वाला भी कोई विवेक, वैराग्य, शम, दम, श्रद्धा, तितिक्षावान् मुमुक्षु ही होता है । तथा कुशल आचार्य से उपदेश किया हुआ ज्ञाता पुरुष भी आश्चर्य रूप होता है ।

## गुरु कौन ?

'गु' शब्द का अर्थ अन्धकार है । 'रु' शब्द का अर्थ अन्धकार का नाश करके ज्ञान का प्रकाश करने वाला होने से उसे गुरु कहा जाता है ।

**भिद्यते हृदय ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः ।**
**क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।।**

मुण्डक उप. २/२/८

जिसकी कृपासे जीव के मन की पांचों भ्रान्तियाँ निवृत्त होकर एक ब्रह्म का साक्षात् मैं रूप में हो जावे वह सद्गुरु कहलाता है ।

भेद भ्रान्ति, कर्ताभोक्ता भ्रान्ति, संग भ्रान्ति, विकार भ्रान्ति, ब्रह्म से पृथक जगत् सत्य भ्रान्ति ।

**भेद भ्रान्ति** : जीव–जीव की भ्रान्ति, जीव– ईश की भ्रान्ति, जड़–जीव की भ्रान्ति, जड़–ईश्वर की भ्रान्ति, जड़–जड़ की भ्रान्ति ।

**जासु कृपा सब भ्रम मिट जाई, गिरिजा सोई कृपालु रघुराई ।।**

गुरु ही परमब्रह्म है । गुरु ही परमगति है । गुरु ही सर्व श्रेष्ठ विद्या है । गुरु ही परम आश्रय है ।

**गुरुरेव परं ब्रह्म गुरुरेव परागतिः ।**
**गुरुरेव पर विद्या गुरुरेव परायणम् ।।**

गुरु ही परम मर्यादा । गुरु ही श्रेष्ठ धन है । गुरु ही सत्यका उपदेश करने वाला है । वह परम पवित्र श्रेष्ठ मार्ग दर्शक है ।

**गुरुरेव पराकाष्ठ गुरुरेव परं धनम् ।**
**यस्मातदुषदेष्टाऽसौ तस्माद्गुरुतरो गुरुरिति ।।**

**न दृष्टे र्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं शृणुयान्न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीथाः । एष त आत्मा सर्वोन्तरोऽन्यदार्तम् ।**

ब्रह्मदारण्यक उप. ३/४/२

मुमुक्षुओं ! तुम अन्तःकरण की वृत्तियों द्वारा जैसे अन्य विषय वस्तु को जानते हो उसी तरह तुम इस वृत्ति के द्रष्टा को, दृष्टि के द्रष्टा को घटादि के समान नहीं देख सकते । वैसे ही श्रुति के श्रोता को नहीं सुन सकते हो । मति के मन्ता अर्थात् मन के द्रष्टा को मन के द्वारा अन्य विषय के मनन करने की तरह मनन नहीं कर सकते हो । बुद्धि वृत्ति रूप विज्ञाति के विज्ञाता को नहीं जान सकते । तुम्हारा यह आत्मा ही सर्वान्तर है इससे भिन्न सब कारण कार्य रूप जगत् मिथ्या है अर्थात् नश्वर है ।

**न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।**
**तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्यभासा सर्वमिदं विभाति ।।**

२/२/१५ कठ.उप.

इस सर्व हृदय स्थित आत्मब्रह्म को सूर्य प्रकाशित नहीं करता । सूर्य की गति इस अनात्म दृश्य जगत् तक ही सीमित है । स्वयं प्रकाश सर्व प्रकाशक सर्वाधिष्ठान के लोक में यह सूर्य नहीं जा पाता है प्रत्युत् इस आत्मब्रह्म के संकेत पाकर ही यह सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी–पवन, जल, अपना–अपना कार्य कर रहे हैं । यदि यह सब प्रकृति कार्य न करे तो कोई भी जीव एक क्षण के लिये भी जीवित नहीं रह सकते । इस आत्मब्रह्म तक यह सूर्य चन्द्रमा, विद्यूत आदि जड़ ज्योतियाँ गति नहीं करते हैं। तो फिर इस अग्नि का वहाँ प्रवेश होने की तो बात ही क्या ?

इस आत्मदेव के प्रकाश से ही यह समस्त ब्रह्माण्ड प्रकाशित होते हैं तथा उसके प्रकाश से ही यह तीन शरीर, तीन अवस्था, पंचकोश, चौदह त्रिपुटियाँ प्रकाशित होती है ।

**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो**
**मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम् ।**

४/५/६ ब्रह्मदारण्यक उप.

यह अपना सर्वाधिष्ठान, सर्वप्रकाशक, स्वयं प्रकाश आत्मा ही जानने योग्य, देखने योग्य, श्रवण करने योग्य, मननीय और ध्यान करने योग्य है । हे मैत्रेयी ! निःसन्देह आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन तथा विज्ञान हो जाने पर कि वह आत्मा मैं हूँ वह सब का विज्ञाता हो जाता हैं । उपादान कारण का ज्ञान होते ही सब कार्य उसी के जान लिये जाते हैं । क्योंकि कारण से कार्य भिन्न सत्ता वाला नहीं रहता है ।

# केवल स्मृति

एकदेशीय, परिच्छिन्न वस्तु को पाने के लिये इच्छुक व्यक्ति को उस योग्य साधन करना पड़ता है । किन्तु आकाशवत् सर्व व्यापक अखण्ड वस्तु परमात्मा के अलावा जहाँ कोई अन्य नहीं है, '**नेह नानास्ति किंञ्चिन्**' '**एकमेवाऽद्वितीय ब्रह्म**' वहाँ कौन किसे पाना चाहेगा ? जहाँ मेरे सिवाय कुछ अन्य नहीं है । यहाँ तो केवल विस्मृति की स्मृति ही करना एक मात्र कर्तव्य है। साधन कहना भी भूल है, क्योंकि, जब साधक से साध्य पृथक् होता है तभी साधन कर्तव्य होता है । यहाँ एक अखण्ड सत्ता में साधक, साध्य, साधन की त्रिपुटी की गुंजाइश नहीं है। यदि होती तो स्वयं ही साधक स्वयं ही साध्य, स्वयं ही साधन है । '**ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति**' उस बह्म को जो भी मैं रूप से जान लेता है वह जानने मात्र से ही ब्रह्म हो जाता है क्योंकि उसे ब्रह्म स्वरूप की केवल विस्मृति ही थी । '**यथा मति तथा गति**' अर्थात् जैसा हमारा चिन्तन होगा, वैसा ही हम प्रकट हो जाते हैं । जब मति से ही गति इतना परमात्मा का क्षेत्र सरल, सुगम है तब हमें जीव मति न बनाकर ब्रह्ममति '**अहं ब्रह्मास्मि**' मैं ब्रह्म हूँ ही विचार, निश्चय बनाना चाहिये । पर आश्चर्य है साधक मति बनाने में भी कृपणता करते हैं । जो वे नहीं है स्त्री, पुरुष, नाम–रूप, ब्राह्मण, क्षत्रिय, जन्म–मृत्युवान वह मति तो निःसन्देह बनालेते हैं किन्तु जो वे हैं ही उस आत्म निष्ठा के लिये सन्देह करते हैं किमैं आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म कैसे हो सकता हूँ ? जब कि श्री भगवान् कहते हैं –

**त्वं तू राजन् मरिष्येति पशुबुर्द्धिममां जाहि ।**
**न जातः प्राग भूतोऽद्यदेहवत्वं च नङक्ष्यसि ।।** भागवत : १२/५/२

हे राजन् ! अब तू पशु बुद्धि छोड़ दे कि मैं मर जाऊँगा । जैसे शरीर पहले नहीं था, पीछे पैदा हुआ और फिर मर जायगा, ऐसे तू पहले नहीं था, पीछे अर्थात् अब पैदा हुआ है और फिर मर जायगा ऐसा नहीं है । हमारा देह से सम्बन्ध नहीं है । हमारा अपने अंशी परमात्मा से सम्बन्ध है, क्योंकि हम उनके अंश है । अंश–अंशी का नित्य सम्बन्ध है । परमात्मा से कभी सम्बन्ध टूट नहीं सकता एवं देह में हमारा सम्बन्ध जुड़ नहीं सकता ।

**अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्तवा कलेवरम् ।**
**यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ।।** गीता ८/५

जो साधक अन्तकाल में भी मुझ को ही स्मरण करता हुआ शरीर को त्याग करता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूप को ही प्राप्त होता है, क्योंकि वह मुझ से कभी एकक्षण भी अलग था नहीं तो मिलना, प्राप्त करना कहना भी वाणी का विलास मात्र है ।

जैसे अखण्ड आकाश से घट–मठ कभी अलग थे नहीं, है नहीं केवल नाना आकार से पृथकता की भ्रान्ति हो रही है । घट, मठ, नष्ट होते ही वह घटाकाश, मठाकाश एक महाकाश स्वरूप को प्राप्त हो जाता है । एक अखण्ड आकाश रूप ही रहजाते हैं ।

**घटे नष्टे तथा व्योम व्योमैव भवति स्वयम् ।।**
**तथैवोपाधिविलये ब्रह्मैव ब्रह्मवित् स्वयम् ।** आत्मपोनिषत् : २२/२३

जैसे घट के नाश से घट स्थित आकाश नष्ट नहीं होता, वह घट से घिरा आकाश घट नष्ट होते ही महाकाश रूप हो जाता है । उसे बृहद आकाश को प्राप्त होना नहीं पड़ता, क्योंकि वह उस अखण्ड आकाश से कभी पृथक् नहीं हुआ था । इसी तरह देह नष्ट होने से देहाकाश चेतन वहीं अपरिच्छिन्न, विराट्, विभु, ब्रह्म संज्ञा को प्राप्त हो जाता है उसे ब्रह्म की प्राप्ति करना नहीं पड़ता । क्योंकि वह ब्रह्म से कभी पृथक् नहीं हुआ था ।

**यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।**
**तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भाव भावितः ।।** गीता ८/६